(तीसरी बार)
१९५२

तीन रुपये

श्री पूर्वोदय प्रकाशन, ७/३६, दरियागंज, दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार द्वारा प्रकाशित और नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

यह पुस्तक

महात्मा भगवानदीन जी के इन लेखों पर लिखना यों मेरे लिए सिब नहीं है; एक तो मैं खुद जवान हूँ, दूसरे वह मेरे अभिभावक फिर भी यह सच है कि जवानों के लिए इससे बढ़कर चीज़ भारत भाषाओं में मैंने दूसरी नहीं देखी। इसमें आग है जो बिना चेताये नहीं सकती। सोते को इससे जागना होगा। ये विचार व्यक्तित्व को दहका सकते हैं कि कभी उसे राख न बनना पड़े, सदा ही वह रा बना रहे।

लेकिन अंगारे में जो ख़तरा है वह भी इस पुस्तक में नहीं है। न्ति, विप्लव, ज्वाला और ऐसे शब्दों की शक्ति अधिकांश नकारात्मक ती है। उनके खतरे को धर्म की ओर से सांत्वना, सन्तोष और मिठास शब्द लाकर कुछ ठण्डा करना आवश्यक होता है। इस पुस्तक की ग सच्ची आग है, फिर भी (या शायद इसीलिए) ठण्डी आग है। किन वह ठण्डक वहाँ धर्म की ओर से नहीं आती, जो तर्कातीत है, ससे जवान को जंचता नहीं है। वह तो सहज बुद्धि और सामान्य वेक की भाषा में ऐसे दी गई है कि अन्दर बस जाती है। विनम्रता, ोमलता, आर्द्रता, संवेदन-शीलता आदि गुणों की क्षति पर विक्रम, राक्रम, दृढ़ता, पौरुष आदि को नहीं खड़ा किया गया है। बल्कि सब ा वहाँ समन्वय है। समन्वय है, इससे वह सात्विक भी है। अब जब के विश्व के इतिहास में एक सन्धि-स्थल आ गया है; पुरानी रूढ़ रही और एक नई संस्कृति उग रही है, ऐसे समय आत्म-निर्माण और चरित्र-निर्माण की यह पुस्तक निश्चय ही बहुत उपादेय होगी।

पुस्तक की भाषा और शैली पर भी ध्यान जाये बिना नहीं रहता, वह इतनी मौलिक और इतनी ताज़ा है। भाषा पर इधर बड़ा बुद्धि-भेद रहा है। बहुतों को टटोल रही है भाषा के उस नमूने की जिसमें हिन्दुस्तान की ज़िन्दगी का अक्स हो और जो सही-सच्ची राष्ट्र की भाषा हो। मेरे ख्याल में वह नमूना कहीं है तो यहाँ है।

दरियागंज; दिल्ली }
९ अप्रैल, १९४८ }

क्या कहाँ

ज वा नो !

: १ :

आत्मा की आज़ादी

आज तुमने खूब काम किया है, इतना कि बदन थककर चूर हो या है। किया है, तो ठीक किया है। काम कर डालने की खुशी भी है, र वह निकल तो पा ही नहीं रही, उसको दबाकर बैठ गई हैं अनेकों ुडैलें, घर की औरतें नहीं, वे भूत की वहनें भी नहीं, जो आदमी के मनगढ़ दिमाग़ ने गढ़ रखी हैं। वह हैं चिन्ता चुडैलें! चिन्ताएँ किस बात ी!—यही नोन-तेल-लकडी की। जवानी का नक्शा खींचते समय किसी ॉव के कवि ने ठीक ही कहा है :—

भूल गये राग-रंग, भूल गये छकड़ी।
तीन चीज़ याद रहीं, नोन-तेल लकड़ी।"

हॉ, वे चुड़ैलें बेशक घेरे हुए हैं। क्या वे सबको घेरे हुए हैं? नहीं, सबको तो नहीं, पर बहुतों को। कुछ को बिलकुल नहीं? तुम उन कुछ मे शामिल क्यो नहीं हो जाते? तुम उन बहुतों की क्यों नकल करते हो, जो चुडैलों से ऑख लडा बैठे हैं? वे चुडैलें हैं, सही, पर वे बिना बुलाये नहीं आतीं। जो नहीं बुलाता, उसके पास नहीं फटकतीं। इतना ही नहीं, उससे कतराती रहती हैं, उससे बचकर निकलती हैं, उससे उन्हें डर लगता है, उनको उसमें से आग निकलती मालूम होती है, उन्हें उसके पास

1350

जाकर जल मरने का डर रहता है। किसी भारतीय विद्वान् ने 'शंका भूत और मनसा डायन' वाला सूत्र कहकर गागर में सागर भर दिया है। चिन्ताएँ अपने-आप कुछ हैं ही नहीं, वे तुम्हारे मन की गढ़ी हुई हैं, और तुम बने हुए हो मन के गुलाम! मन-मालिक के दुःख में तुम-गुलाम को दुखी होना ही पड़ता है। बनो तुम मन के मालिक। फिर वे चुड़ैलें तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगी। मन मे रहते भले ही मन को सताती रहें, पर तुम्हारा कर कुछ भी नहीं सकेंगी। गुलाम की तकलीफ़ों का असर मालिक पर बहुत कम हुआ करता है, कभी-कभी तो बिलकुल भी नहीं।

तुम सोच रहे होगे कि क्या बात कही जा रही है? मैंने कोई चुड़ैल तैयार नहीं की। रही मन की गुलामी की बात, सो दुनिया में निन्यानबे प्रतिशत का यही हाल है, कुछ मैं ही अनोखा नहीं हूँ। मन पर अधिकार कुछ इने-गिने साधु ही जमा सकते हैं, गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते। मैं गृहस्थ बनना चाहता हूँ। साधु बनना होता, तो मुझे किसी नसीहत की जरूरत नहीं थी। मैं आप ही सैकड़ों को सलाह बता देता। "पर उपदेश कुशल सब कोई!"

ठीक, बिलकुल ठीक। मैं तुमको न साधु बनाना चाहता हूँ और न परमार्थी। मुझे तो परमार्थ भी स्वार्थ में छिपा बैठा दिखाई देता है, स्वार्थी तो बनोगे? मैं तो तुमको उस बीज का पता दे देना चाहता हूँ, जो तुम्हारे मन में जड़ पकड़ कर बड़ा होता रहता है, और कुछ ही दिनों मे चिन्ता-फलो की फ़सल पैदा कर डालता है। उस बीज को गला डालो, पेड़ न उगेगा। 'न होगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।' गलाने मे थोड़ी तकलीफ़ तो होगी, पर बहुत आराम के लिए उसे सहन करना ही होगा। फोड़ा चिरवाकर दुनिया आराम का उपभोग कर रही है, तो ज़रा-सी तकलीफ़ से क्यों डरते हो? डर आप ही कौन कम तकलीफ़ वाली चीज़ है? डर की तकलीफ़ उस तकलीफ़ से कहीं ज़्यादा वजनी मिलेगी, जिस तकलीफ़ को बरदाश्त करने की बात मैं आपको बतलाने वाला हूँ।

यह याद रहे कि सिरजन शक्ति, यानी कुछ कर डालने की ताक़त, न्ताओं के बोझ से दबकर बुड़बुडाने मे नहीं रहती। वह चिन्तनशीलता है, चिन्तित अवस्था में नहीं। चिन्ता करना, और चिन्ता में फॅसना—अलग चीजें हैं, सोचना, सोच मे पडना नहीं है, अन्तर है। जब हम सी आफत मे हों और जान-बूझकर किसी कोने मे बैठकर उस आफत से कलने का रास्ता ढूॅढ़ निकालने की सोचने लगे, तो वह कहलायेगा न्ता करना या सोचना, और किसी आफत मे-पडकर हम घबराकर 'हाय रे, हाय मरे' करने लगें, या यह कि 'अब क्या होगा, अब क्या होगा' की क्र मे पड जायॅ, तो यह कहलायेगा 'चिन्ता मे फॅसना या सोच मे पड़ना।' क में चिन्ता हमारे बस में होती है, वह हमारी दासी होती है, हमारा ाथ बॅटाती है, काम की होती है। दूसरे मे वह हम पर सवार रहती है, म उसके दास होते हैं, वह हमारी कमर तोड देती है, तभी हम उसको 'चुडैल' कहकर पुकारते हैं। इस चुड़ैल के बस में रहकर जो-कुछ हम करते हैं, वह उसका काम होता है; हमारा तो धीरे-धीरे वह काम ही तमाम कर डालती है, हमको वह बेढब तरीके से चूसती है, हमको उससे चूसे जाने का पता तक नहीं चलता, पर जब वह हमारी दासी बनकर काम करती है तब उसका सारा काम हमारा काम हो जाता है। वह हमारे सिरजन मे सहायक बन जाती है, हमसे हमारा काम ही नहीं, समाज का भी काम करा लेती है। चिन्ता-चेरी से नहीं, बचना है हमे चिन्ता-चुडैल की चालों से। 'चिन्ता' नाम से स्त्री जॅचती है, वह है भी स्त्री ('स्त्री' शब्द यहाॅ कायरता की तरफ इशारा करता है, स्त्री-रूप धारी मानव की तरफ नहीं)। दुर्गावती, लक्ष्मीबाई, पार्वती, सीता स्त्रियाॅ नहीं थीं। आर्क की जोन भी स्त्री नहीं थी। आज सरोजनी नायडू भी स्त्री नहीं है। सैकडों जाटनियाॅ और गोरखने भी स्त्रियाॅ नहीं है। रूस में तो स्त्रियाॅ ढूॅढ़ने से दो-चार ही मिलेंगी। गरज यह कि जो कायर वह स्त्री, चाहे वह फिर मर्द ही क्यों न हो। खैर, चिन्ता कायरता है, वह कायरों मे ही रहती है, बहादुरों में नहीं।

बताइये, आप अपनी शुमार किसमे करते हैं ? कायरों में अपना नाम लिखाकर आप आफ़तों से बचना भी चाहें तो नहीं बच सकते। लेंडी कुत्ता पूँछ दबाकर दो-चार जख्मों से छुटकारा पा सकता है, पर डरने-सिकुड़ने से नहीं। कायरता का धर्म है डरना। डर का धर्म है सिकुडना। सिकुड़ने का धर्म है बिना मौत मरना। अब कहिए, आप क्या कहते हैं ? पूँछ उठाकर दो-चार जख्म खाना-खिलाना पसन्द करते हैं, या मरना पसन्द करते हैं ? अगर आप हिन्दू हैं, तो मरने के बाद फिर जीना है और अगर आप मुसलमान हैं; तो आक्बत मे दोजख की आग मे जलना है। छुटकारे से छुटकारा नहीं मिलेगा, बन्धनों मे कुछ बदन फुला बन्धन तोड़कर ही छुटकारा नसीब होगा।

आइए, अब उन्हीं बन्धनों को समझ लें, और यह भी समझ लें कि उनको किस तरह तोड़ना होगा।

(१) जिस काम मे हम लगे हुए हैं, अगर उसमें हम जबरदस्ती लगाये गए हैं—फिर चाहे उसमे हमें हमारे कमीने पेट ने लगाया हो या रिश्तेदारों ने, उसमे लगे नहीं रहेंगे, उसमें लगे चैन माने यह तो एक, ओर।

उपाय ? तदबीर।

अपने को अकेला समझो, अकेला।

हस्तिनापुर (मेरठ) के जंगल में मेरे पास एक घोड़ी थी। कभी-कभी वह रस्सा तुड़ाकर भाग जाती थी। दिन-भर जंगल मे चरती, रात को डर के मारे आश्रम के फाटक पर आ खड़ी होती। दो दिन के बाद रात का आना भी बन्द हो जाता। फिर दिनो गायब रहती। पन्द्रह-बीस दिन के बाद मवेशीखाने मे इतनी मोटी मिलती कि उसके लिए यह कहना झिझक से खाली न होता कि यह वही मरियल घोड़ी है। आपका भी यही हाल होगा। डर से आपका जो अपनापा हो गया है, वह अपने पाँव पर खड़े होने से ही जायगा।

(२) उन जिम्मेदारियों के बोझ को सिर से उतारकर फेंक दो,

होंने तुम्हारी उपयोगिता को दबा रखा है, या कुचल डाला है। जो बनना चाहते थे, उसकी याद तक को, उन ज़िम्मेदारियो ने हड़प लिया है।

यह किस तरह ?

झिझक है, उसे छोड़ो। उतारकर बोझा फेंको तो, हलके हो जाओगे। लके होकर वह तदवीर पूछने की जरूरत ही न रह जायगी।

(३) उन हट्टे-कट्टे निठल्लों को खिलाना छोड़ दो, जिनकी वजह से नको अपनी ताकत से ज़्यादा काम करना पड़ता है।

यह क्योंकर ?

उनके हट्टे-कट्टेपन पर नजर डाल जाओ तो तुमको पता लगेगा कि म उनका भला न कर, बुरा ही कर रहे हो। तुम्हारे भरोसे वे अपने बल ा उपयोग ही नहीं करते। अपनी ताकत से काम न लेना बदहज़मी दा करता है। बदहज़मी बीमारी, और बीमारी मौत। इस मौत के ज़िम्मेदार तुम।

(४) अपनी जरूरतों की कतर-ब्योंत से रिवाजों का पेट न भरो। यह तो मुश्किल है। मुश्किल नहीं, आसान है। यह देखने में मुश्किल, और करने में आसान है। इसको छोड़ते ही तुम्हारी ताकत बढ़ जायगी और समाज के लिहाज़ से भी तुम ज्यादा काम के आदमी बन जाओगे।

(५) आखिरी बात, पर सबसे जरूरी। जबरदस्ती जिसको तुम अपना मालिक, हाकिम या गुरु मान बैठे हो, उसे वैसा मानना छोड़ दो।

यह सुनकर जी फड़क उठा, यह तो आपने मनचाही बात कही, पर यह हो कैसे ? यह बताइये।

बेशक, यह मुश्किल काम है। यह उतना ही मुश्किल है, जितना अपने हाथ से खाये जहर से बचना। जैसे अपने हाथ से खाये जहर के मामले में देर करना जिन्दगी से हाथ धोना होता है, ठीक उसी तरह इस

मामले मे देर करना भी कई जिन्दगियो का बिगाड़ना होता है। इस तरह का डरपोक-पन सारी जिन्दगी को खराब ही नहीं कर देता बल्कि इतना दुःख भी देता है कि उसके सामने वह दुःख कुछ नहीं है, जो हमको अपनी जा-बेजा इच्छाओ के पूरा करने मे उठाना पड़ता है।

गीता पढ़कर लोग कृष्ण न बनकर अर्जुन बनते जा रहे हैं; पर अर्जुन वह जो गीता सुनने से पहले था, यानी कायर अर्जुन, क्लीव अर्जुन। उनको अपने से ही डर लगने लगा है। अपने से डरना सब से बड़ी भूल है, पर यह हो सबसे रही है। असफलता का यही कारण है। इस डर ने जिन्दगी मिट्टी कर रखी है। इसी ने ना-उम्मेदी को जन्म दिया है। ना-उम्मेदी और गुलामी बहनें-बहनें हैं।

श्रीकृष्ण की सीख देखने मे ऐसी जँचती है, मानो अर्जुन को कह रहे हों—"अपना मतलब निकाल, किसी की परवाह न कर।" पर वास्तव में बात ऐसी है नहीं। वे तो भीष्म-द्रोण-जैसे महारथियो को उस पाप से छुड़ाना चाहते थे, जो वे दुर्योधन के, अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध, नौकर बनकर कर रहे थे। अर्जुन भी कुछ इसी तरह की भूल करने की सोच बैठा था और यदि कृष्ण उसके सारथि न होते तो कर भी जाता। फिर जानते हो, उसकी जिन्दगी कैसी होती? कहीं मुँह दिखाने लायक न रह जाता।

अब अगर तुम सुखी होना चाहते हो तो यह काम करना ही होगा। इस जबरदस्त बन्धन को तोड़कर ही सुखी हो सकते हो। तो भी आओ, यह समझ लें कि ऐसा करना पाप तो नहीं है। अर्जुन को भी यह शंका हुई थी। उसकी तसल्ली की गई थी, टाला नहीं गया था। तुम्हें भी टाला नहीं जायगा, तुम्हारी तसल्ली की जायगी।

तुम्हें जो सलाह दी जा रही है, वह झूठे देवताओं को उठा फेंकने की दी जा रही है। जबरदस्ती के गुरुओ व मालिकों को धता बताने की दी जा रही है। इसमें तुम्हारी खोटी वासनाओ की मदद नहीं की जा

ी, और न लालच या घमण्ड को भड़काया जा रहा है। अराजकता
सबक भी इसमें कहीं नहीं है। यह तो सीधी-सादी विज्ञान की बात
, सचाई की, और ऐसी सचाई की जो विज्ञान की कसौटी पर कसी जा
कती है। हाँ, इसमें शक नहीं कि हम इस युग की धोखेबाजियों के तरफ़-
ार नहीं हैं, और न उनको ठीक ही मानने को तैयार हैं।

हम यह भी नहीं कह रहे कि जवान जिसकी चाहे पगड़ी उतार फेंके; जिसका चाहे मज़ाक उड़ायें, जिसकी चाहे किताब जला दें, जिसकी चाहे आज़ादी छीन लें, जिसका चाहे धन लूट लें, या जो जी मे आये कर डालें। हम तो उसको अन्तर-आत्मा या ज़मीर का कहना मानना सिखा रहे हैं। मन की न सुनकर उसको अन्तरात्मा की पुकार सुनने की बात कह रहे हैं।

"मैं हूँ"—यह हम सिखायेंगे ही। "मैं हूँ" ज़िन्दगी है। "मैं हूँ" यह तरक्की की राय है। "मैं हूँ" नहीं, तो कुछ नहीं। हाँ, "मैं ही हूँ"..."मैं ही सब-कुछ हूँ"—इस घमण्ड के गढ़ को हम ढाना चाहते हैं। ये गढ़ आज के युग मे जगह-जगह खड़े हो गए हैं। ये उच्छृंखलता की नींव पर खड़े हैं। आत्म-संयम वहाँ नाम को भी नहीं है।

दिल काबू में रखकर, मन वश मे कर, ज़मीर की रहनुमाई मे अन्तरात्मा के नेतृत्व में किया हुआ ग़दर या क्रान्ति बनाती है बहुत, बिगाड़ती है बहुत थोड़ा, और वह भी उसका बिगाड़ती है, जो निकम्मा होता है।

उस क्रान्ति की जय मनाते हुए, आज की बात सोचो और आत्मा की आवाज़ सुनो।



: २ :

काम करो, सोच में न पड़े रहो

वह गिरा-कोई ! यह मत सोचो कि वह कौन है दौड़ो, और उठाओ ! सोच में पड़े कि मौक़ा हाथ से गया। जो गिरा है, वह पडा नहीं रहेगा। वह तुम्हारे उठाने के लिए नही गिरा है। कोई और जानदार दौड़ेगा और उसको उठायेगा, तुम हाथ मलते रह जाओगे। देखो, वह आया उठाने ! उठा दिया उसने !

लो, एक और गिरा और उसने हड्डी तोड़ ली। दौड़ो, लाओ एक गाडी और पहुँचाओ उसे अस्पताल ! दूसरा मौका, झिझके और गए ! लो, वह पहुँच गया जानदार। वह है भी फुर्तीला। भारी पाँव वाली औरत की तरह चलकर दुनिया मे निर्वाह नही होता। दूसरी भूल !

वह गिरा बच्चा ! आया मोटर के नीचे ! वह दौड़ा जानदार और उसने उठा लिया। तुम देखते-के-देखते रह गए ! क्या खूब ! एक, दो, तीन—फ़ेल !

समझे कुछ ! तकलीफ़ों के मुक़ाबिले का एक ही उपाय है। वह है फ़ौरन सारे सीन को बदल दो। और अगर सोचो ही, तो कभी-कभी और वह भी कुछ सैकण्ड।

हकीम घंटों सोचे तो मरीज की जान ले-ले। ताँगा हाँकने वाला यों सोचे तो दसियों को गिरा दे। रेलगाड़ी का ड्राइवर यों सोचे तो गाड़ी

सैकडों को इस दुनिया से चलता कर दे; और फौज का जनरल ऐसे
तो हजारों को तलवार के घाट उतरवा दे।
ो जानदार है, वह जवान है। बहुत सोचना जवान का काम नहीं,
से कर डालना जवानी है। सोचना, सोचना, सोचते रहना बुढ़ापा है।
आधी मौत है। जीवन बचपन है। जानदार और काम का जीवन
। है। उम्र का जवानो से कोई रिश्ता नहीं।
बुढ़ापे का दूसरा नाम है ढीली जवानी। हरदम चुस्त, हरदम
—यह हुआ जिन्दगी का एक उसूल। ग़लती करो, ग़लतियाँ करो,
करो, हर वक्त करो; पर एक तरह की ग़लती दो बार न करो। जिससे
नहीं हुई, वह कुछ है ही नही। जिन्दगी भूलों के एक ढेर का नाम
और अक्ल, बुद्धि? वह, वह है इन्हीं भूलों से सीखा हुआ पाठ,
। किताब का सबक भूला जा सकता है, पर भूल की किताब का
; दिल पर अमिट रहता है। यह सबक़ जिस्म में जान फूँकता है।
फुरती बनकर मौके पर कूदता है और सबसे बाजी ले जाता है! भूल
। से झिझकना, काम करने से झिझकना है। काम करने से
झकना, जान को जान समझने से झिझकना है—जीते-जी
में अपना नाम लिखा लेना है। भूल की पाठशाला में
त हुए सबक बड़े काम के होते हैं। वह बना देते हैं आदमी को निर्लेप!
सिखा देते हैं आदमी को दुकानदारी के तालाब मे कमल की
ह रहना। करना, करना और करना, पर फँसना नहीं। अंग्रेजी में
को कहते हैं—इम्पर्सनल लाइफ (Impersonal life)। गीता
इसका नाम है अनासक्ति योग, और अनासक्ति का नाम है—बेलाग
न्दगी।

रामायण सुनते हो, महाभारत के फिल्म देखते हो, शियो की मजलिसो
शामिल होकर हुसैन के कारनामे सुनते हो, सुन्नियों की ताजियेदारी मे
स्सा लेकर भूखे-प्यासे मरने की तकलीफों का जिक्र सुनते हो; किस
नए?—यही न, कि तुम समझो कि तुम्हारे बुजुर्गों ने तकलीफों मे पडकर

क्या-क्या खेल खेले ?

तकलीफ़ों में हाथ डाल-डालकर ही तुम ज्ञानी और दानिशमन्द बन सकते हो। तकलीफ़ों का हाल पढ़-सुनकर उनमे पड़ने की हिम्मत भले ही आ जाय, पर अक्ल न आयगी, न आयगी। उलझनो का सुलझाना सुलझाने से आयगा। सुलझाने की बात सुनकर न आयगा, सुलझाते देखकर भी न आयगा। सुलझाते हुए के हाथ चलते देख सकते हो, उसके मन की ऊबन का अनुभव तुमको कैसे होगा ? तैरना तैरने से ही आता है, तैराक़ी पर किताब पढ़ने से नहीं।

तकलीफ़ो से बचकर भागना न बहादुरी है, न बुद्धिमानी। वह कायरता है, और है नादानी ! तकलीफ़ो मे पड़े-पड़े सड़ना और भी बुरी बात है। वह जिन्दगी की दौड़ के मैदान में खड़ी की हुई रुकावटें हैं, खोदी हुई खाइयाँ हैं, गढ़ी हुई भूल-भुलैयाँ हैं। उन्हें तो कूदकर, लाँघकर, रास्ता निकालकर पार करने मे ही हमारा भला है।

अपने ऊपर आई हुई तकलीफ़ों का रोना ? औरों के आगे रोकर न तुम अपना कुछ भला कर सकते हो और न किसी और का। सीता के हरे जाने पर वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने ही राम को रुलाया है और खूब रुलाया है; पर कहीं वह लक्ष्मण को भी रुला देते तो गई थी सीता और उसी के साथ हिन्दुस्तान की इज्जत। मेरी राय में पौलस्त्य-वध और मानस दोनों के राम कथा-कहानी के राम हैं। असली राम न रोये, न सोच में पड़े। उन्होंने घबराये हुए लक्ष्मण को सम्भाला और एक क्षण खोये बिना लग गए सीता की खोज मे और लगा लिया उसका पता।

राम के आगे के कारनामे हमें इसी नतीजे पर पहुँचने को मजबूर करते हैं। राम ने और अकेले राम ने, घर से सैकड़ो कोस दूर वाले राम ने लंका-विजय कर जो चमत्कार दिखाया है, वह रोने वाला राम नहीं हो सकता। करिश्मे रोऊ नहीं दिखाया करते। करिश्मे चमत्कारी व्यक्ति दिखाया करता है। चमत्कारी का होता है मुस्कुराता सर, हिलता हाथ और मौनी

। तुम भी अपनी तकलीफों में गूँथ लिया करो चालों की एक माला, र तय कर लिया करो कि कौन-सी चाल कब और कैसे चली जायगी। रंज के खेल मे जो जितनी चालें आगे की सोचकर चलता है, वही ाी जीता करता है। अपनी चालों की जाँच करते वक्त जितनी जल्दी को अपनी भूल मिलेगी, दूसरे को नहीं। तुम्हारे सामने हर चाल का ान-निचान जो है। पर यह सब कामयाबी के साथ होगा तब, जब तुम ों के स्कूल में बिला-नाग़ा जा चुके होगे और बेलाग जिन्दगी बिताना ख चुके होगे।

तजुर्बे हासिल करते हुए बेलाग जिन्दगी बिताना जिन्दगी का दूसरा सूल है।

जिन्दगी सोच-विचार की चीज नहीं, वह तो बिताने की चीज है। असल में जिन्दगी एक सीढ़ी है, तक्लीफें उसके डंडे हैं। सीढ़ी के ऊपर हुँचना जिन्दगी बिताने वालों का काम है। डंडों पर सम्भलकर पाँव रखने ा ही हम फिसलने से बच सकते हैं। एक पाँव जमाने मे देर लगाएँगे, र दूसरा पाँव उठाने में जल्दी करेंगे। जितने डंडे हम चढ़ चुके हैं, उनके ारे में सोचने मे हम वक्त जाया नहीं करेंगे। हम सोचेंगे उन डंडों की जिन पर पाँव रखकर हमें ऊपर चढ़ना है। तभी आजादी की छत पर पहुँच पायेंगे। यह जिन्दगी एक गोरख-धन्धा है। हमें चाहिए कि उसको सुलझाने के लिए कदम उठाने से पहले हम दो-चार नहीं; बल्कि बीसियों हल सोच लें और फिर एक के बाद एक लगातार काम में लाने लग जावें। ऐसा करने से हम झुँझलाहट के शिकार होने से बच जायेंगे। ऊब उठने की बात फिर पैदा ही न होगी।

सचाई बड़ी अच्छी चीज है। कुछ बुजुर्गों ने तो सच को ही खुदा कहा है। सच है भी इस नाम के लायक। सच जब ईश्वर ही है तो मौजूद भी होना चाहिए, पर यह याद रहे, वह आकाश की तरह सब जगह मौजूद है। सच में तकलीफो को मिटाने की ताकत नहीं, उलझनों को सुलझाने का बल नहीं। यह बल तो बालू के जर्रे-जितनी व्यवहार-बुद्धि, यानी अमली

मामलों की वजह से हमारे बक्स खुलते और बन्द होते हैं। कौन बातें कौन बक्स खोलती हैं और कितनी देर खुला रखती हैं, इसका हिसाब रखने से दोनों बक्सों पर हमारा पूरा अधिकार हो जायगा। एक तरह से यों हम दुःख से बच ही जायँगे। हिसाब के बाद आँकड़ा यों मिलाना होगा।

भला या बुरा कोई भी काम जब तुम शुरू करते हो तो दो तरह की बातें तुम्हारे सामने आया करती हैं, एक हिम्मत घटाने वाली और दूसरी हिम्मत बढ़ाने वाली। पहली बुरी लगती है, दूसरी भली।

सन् १९१० में मुझे गुरुकुल खोलने की धुन सवार हुई। कुछ दिन बाद वह लगन बन बैठी। अब क्या था! अन्तरात्मा बोलने लगा। ऐसा हमेशा ही होता है, हर एक के साथ होता है, यानी लगन लगी और अन्तरात्मा जागा। इसी अन्तरात्मा ने बताया, जो कहे 'गुरुकुल खोलना बुरा', 'गुरुकुल खोलना मूर्खता', उसकी सुनना ही नहीं। और जो कहे, 'गुरुकुल खोलना भला', 'उसका खोलना बुद्धिमानी', 'उसके लिए यही ठीक समय है', उसके पास रहना और घण्टों रहना, हफ्तों रहना, उसकी खूब सुनना-समझना, पर करना अपनी। अन्तरात्मा की आज्ञा मानी गई, मैं काम में लग गया, दुःख पास न फटका। ११ नवम्बर सन् १९१० को लगन लगी और ११ मई सन् १९११ को गुरुकुल खुल गया। खुलने से ठीक पहले बड़ी विपत्तियाँ आईं, पर अन्तरात्मा के बताए मन्त्र से पलक मारते टल गईं।

'गुरुकुल खोलना बुरा है, बे-वक्त, है, भूल है', जिनकी यह राय थी वह मेरे दुश्मन न थे, मेरे मित्र थे, मेरे भले की कहते थे। मगर उनकी यह राय सिर्फ मेरे लिए थी। मेरी जगह कोई और होता, तो वे अपनी कुछ और ही राय देते। यह ठीक है, वह मुझे तकलीफ़ों से बचाना चाहते थे। जो हमें काम करने से रोकते हैं वह हमारे दुश्मन ही होते हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। ऐसी कठिनाइयाँ तुम्हारे सामने आएँगी। उस समय तुम दूसरों को खोटी-खरी न सुनाना, अपनी बात से हटना भी

। तुम अपना समय उनको समझाने में न खोना, जो तुम्हारे काम
कि नहीं समझते। तुम अपने वक्त का सदुपयोग करना उनको
ाने में जो तुम्हारे काम को ठीक समझते हैं। और इसी तरह अपने
दारों की तादाद बढ़ाये जाना। ना-तरफ़दारो की गिनती अपने आप
म होती जायगी। ना-तरफ़दारो को तुम मत छेड़ो, वे तुम्हे नहीं
ो। इस सुख-दुःख के आँकड़े मिलाने का सबक तुमको घर से
ना होगा। अगर तुम यह चाहते हो कि तुम्हारे बच्चे तुमको काम
े हुए न छेड़ें तो तुम भी उनको खेल खेलते न छेड़ो। अगर तुम
हते हो कि तुम्हारी स्त्री तुम्हें तुम्हारे दोस्तों के सामने हल्की बात न कह
, तो तुम भी उससे उसकी सहेलियो के सामने ऐसी बात कह बैठने की
ज़ न करो।

घरेलू आँकड़े बनाते-बनाते सामाजिक आँकडे बनाने में तुम अभ्यस्त
ो जाओगे और इस तरह सुख-दुख पर बहुत दर्जे तक काबू पा
ाओगे।

कुछ लोग समझते हैं, सोचना काम है। सोचना काम नहीं, काम का
हिस्सा समझा जा सकता है, पर वह तब, जब सोचने वाले ने हाथ-पाँव
हिलाकर कुछ कर दिखाया हो। यदि ऐसा न हुआ तो वह सोचना न काम
है और न काम का हिस्सा। ऐसे सोच-विचार का नाम है निठल्लापन।
आँकड़े मे इस काम मे लगा वक्त दाईं ओर, यानी खर्च के नाम, ही डाला
जायगा—और वह भी बट्टे-खाते।

तुम्हारे बक्स का ताला बन्द है, उसकी ताली खो गई है। उसके
खोलने की तरकीबें घण्टो, दिनो, हफ्तों, महीनो सोचकर तुम ताला नहीं
खोल सकते। पर एक कील लेकर ताले के सूराख मे डालकर उजड्डपन
से इधर-उधर हिलाकर, हो सकता है, कुछ देर में तुम उसे खोलने में
सफल हो जाओ। और कहीं तुम्हारा मन इधर हो और बुद्धि को थोड़ा
कष्ट दो, तो और जल्दी उसे खोल सकते हो। बडी-बडी ईजादों की जड
मे तुमको मिलेगा केवल 'लगे-रहना' और केवल 'काम मे लगे रहना'। एक

सफल उपन्यास-लेखक से पूछा गया, "तुम उपन्यास-सम्राट् कैसे हो गये ?" उसने जवाब दिया, "एक दिन भी लिखने की नागा न करने से।" मुलायम रस्सी पत्थर में निशान कर देती है। तुच्छ बूँदें सिल पर गढ़ा कर देती हैं। यह उदास हृदयों को उकसाने के लिए कोरी कल्पनाएँ नहीं हैं, सचाई के ठोस गुर हैं। एक साल काम का और निठल्लेपन का आँकड़ा मिलाकर देखो तो। अगर बाईं तरफ की रकम दाईं तरफ की रकम से ज्यादा है, तो तुमने जरूर कुछ ऐसा काम कर डाला है जो न सिर्फ तुम्हारे लिए; बल्कि तुम्हारे कुटुम्ब के लिए, तुम्हारे समाज के लिए और तुम्हारे देश के लिए उपयोगी है।

सोचना और सोचना ही सोचना, 'खाली बैठना' है। काम करना और काम किये जाना 'काम करना' है। काम करते-करते जो सोचा जाय, उसका नाम भी 'काम' है। काम करते-करते सोच-विचार का नाम है 'सिर का काम' जिसे अंग्रेजी में ब्रेन वर्क (Brain-work) कहते हैं। यह सिर का काम हाथ के काम को चौगुना कर देता है। तभी इसको काम का नाम मिला है। कोरे सोचने से काम की चाल धीमी ही नहीं पडती, रुक जाती है और वह काम के पुरजों में जंग लगाकर उन्हें हमेशा के लिए बेकार कर देती है। पढ़ना काम नहीं है, निठल्लापन है। हाँ, वह पढ़ना काम है, जो किसी काम के लिए पढ़ा जाय। काम में लगे-लगे अगर कायरता आ दबाए, तो गीता पढ़ना काम समझा जायगा ? रोज उसका अव्वल से लेकर आखिर तक पढ-जाना निठल्लापन नाम पायगा। बे-मतलब अखबारों का पढ़ना निठल्लापन है। निठल्लापन ही नहीं, नशा है, लत है, बीमारी है। हाँ, एक व्यापारी अपनी चीजों के भाव जानने के लिए अखबार खरीदता और पढ़ता है, वह सचमुच काम करता है और कुछ खोकर भी कमाता है। हिन्दुस्तान में खबरों के अखबार हैं, समाचारों के समाचार-पत्र हैं; यानी बेकारों के 'कार' हैं—काम पत्र, यानी काम के पत्र, हैं ही नहीं। आजकल सब सरकारी गज़ट बने हुए हैं। कुछ को छोड़ सभी धनवानों की भाटगीरी का काम करते हैं, या दुकानदारों की दलाली का। इनको पढ़ना काम कैसे

सकता है ? इस आँकड़े में पूरे सतर्क रहने के लिए ऊपर की लकीरें
ी गई हैं। ये इशारे हैं। इनकी मदद से आँकड़े में कौन रकम किधर
ी जानी चाहिए, इस काम में मदद मिलेगी।

निराश हुए और गए। उम्मीद सहारा है। उम्मीद ही जीवन है।
ाशा मौत है। उम्मीद श्रद्धा की बहन है और सदा साथ रहने वाली
न है। उम्मीद है तो काम करने का बल है और काम कराने का बल
तो जय मिलेगी ही। जय इत्र है परिश्रम के फूलों का। इत्र
ों फूलों से तोलो ही मिलता है, पर इत्र का तोला फूल के मन से ज़्यादा
चवान होता है। बहुत मेहनत से ही जय मिलती है। जय परिश्रम के
ख को भुला देती है और उससे कहीं ज़्यादा प्यारी लगती है। परिश्रम-
जन की उम्मीद भाप है। परिश्रम देह की श्वास-श्वास है। किसी ने ठीक
हा है : 'जब तक श्वासा तब तक आशा।' आशा में तकलीफ भले हो,
ौत नहीं। जय में सुख है, पर उस सुख और आनन्द में मौत का
ाँटा छिपा रहता है। कौन नहीं जानता, अपने बेटे के देखने के लिए
ीमारी के बिस्तर पर पड़ी ज्यों-त्यों दम-जुडाती माँ उसे देखकर दम तोड़
ती है। आशा और जय में यही तो अन्तर है। इच्छा-पूर्ति में यही तो
फ़र्क है। जय में कभी-कभी आशा का अन्त हो जाता है और इसलिए
मौत आ धमकती है। झूठी, नकली जय भी कभी-कभी जय मान ली जाती
है और इस तरह आशा का अन्त हो जाने से जो चीज मिलती है, वह
होती है—हार, असफलता, ना-कामयाबी।

इसलिए आशा और निराशा का खाता रखना बहुत जरूरी है। आशा
की पूँजी बढ़ाने में यह जानकारी बड़ी मदद देती है कि परिश्रम किये जाने
का फल होता ही है और बहुत मीठा होता है। घण्टों दही बिलोने पर
मक्खन निकलता है। वर्षों पानी देने पर आम के पेड़ से फल मिलते हैं।
लाखों मन पत्थर-जैसी कड़ी मिट्टी काटने पर हीरे की एक कनी नसीब होती
है। पर यह कनी हजारों मजदूरों की मजदूरी चुराकर वर्षों बैठे-बैठे उनको
खाना भी दे सकती है, अगर वह कनी उन मजदूरों को ही दे दी जाय।

1350

इस साधारण ज्ञान के बल पर, जवानो, आशा की पूँजी बढ़ाते हुए तुम सुखी रह सकते हो और कॉटों से भरी जमीन को फूलों की सेज बना सकते हो। इन आँकड़ों को रोज-के-रोज मिलाने पर तुम्हारा चेहरा चमक उठेगा, तुम्हारे मुँह से फूल झड़ने लगेंगे, तुम्हारी आँखें जगमगाने लगेंगी। वक्त के असर से तुम बचे रहोगे। बालकों-जैसी उछल-कूद और चपलता तुम मे बनी रहेगी और तुम मनचाही मौत पा सकोगे।

एक ग्रामीण, मुसलमान, बूढ़ी, तजुर्बेकार औरत से किसी हिन्दू नव-यौवना ने पूछा, "अम्माँ, तुम्हारे अभी कितने रोजे और बाकी हैं?" वह हँसते चेहरे से बिना प्रयास बोल पड़ी, "गये बिचारे रोजड़े, रह गए नौ और बीस।" यह वह जानती है कि तीस रोजों में से अभी उन्तीस बाकी हैं, पर इसका जिक्र वह पूछने पर ही करती है और इस तरह करती है, मानो वह उन्तीस उस एक के मुकाबिले में कुछ भी नहीं है, जिसे वह पूरा कर चुकी है। इस तरह वह 'हो चुका' का पल्ला 'होने को है' के पल्ले से सदा भारी रखती है। तभी तो हर वक्त उसके चेहरे पर हँसती-खेलती रहती है। दुनिया बन रही है, बिगड नहीं रही है।

कितना बनना बाकी है, उसकी तरफ नजर डाली—और तुम गिरे सोच की गहरी खाई में। चाहे उसमें डूबो नहीं, पर वहाँ से निकलना आसान नहीं। आदर्श, या वह जगह जहाँ हमे पहुँचना है, कितनी दूर है—यह मत सोचो। सोचो यह कि तुम आदर्श की ओर कितना बढ़ चुके हो। दूसरो से झगड़ बैठने मे कारण हमारे 'हो चुका' के खाते की कमी ही हुआ करती है। जिनका 'होने को है' का खाता बहुत होता है, वह चिड़चिड़े मिजाज के होते हैं। हर किसी से उलझ बैठते हैं। इस उलझन में उलझकर न खुद आगे बढ़ पाते हैं और न अपने रिश्तेदारों, भाइयों को आगे बढ़ने देते हैं। बूढ़े बाप अपने दुधमुँहे बच्चों से चाहते हैं कि वे उनकी तरह रहें-सहें और जब वह वैसा नहीं करते तो आपे से बाहर हो उन पर बरस पड़ते हैं। बूढ़ी माताएँ अपनी नन्हीं-नन्हीं बच्चियों की उछल-कूद, धौल-धप्पड़, तोड़-फोड़, लूट-खसोट, छीना-झपटी देखकर ऐसी नाक-भौं सिकोड़ती है कि कहते नहीं

। वे चाहती हैं कि वे नन्हीं रहती हुई हो उन-जैसी बूढ़ी बन जायँ। वह बूढ़े-बुढ़िया खुश मिलेंगे, जो यह देखकर खुश होते हैं कि हमारे वर्ष के बच्चे वह बातें नहीं करते, जो वह तब करते थे, जब दो वर्ष के । एक वर्ष के थे। अहा! अब तो वह घुटनों न चलकर, खड़े होकर एक कदम चलना सीख गए हैं। अहा! अब तो वह चम्मच से लेर दूध पीना सीख गए हैं। अहा! अब तो वह छोटे-छोटे वाक्यों को ना सीख गए हैं।

यशोदा और नन्द की कथा लोग सुनते जरूर हैं, पर उन-जैसा व्योहार अपने बच्चों के साथ नहीं करते। वह अपनी खाली दुनिया में यशोदा र नन्द को अपने प्यारे कान्ह-कन्हाई पर अनाप-शनाप प्यार उँडेलते खते हैं और मस्त हो-होकर कथा-रसपान भी करते हैं, पर घर लौटकर वही ोग बीसवीं सदी के बुड्ढे-बुढ़िया बन जाते हैं और बालकों को फटकारने ग जाते हैं।

जवानो! अपना 'हो चुका' का खाता सम्भालो। 'होने को है' के नाम प्रपने कीमती वक्त की रकमें लिखना छोड़ो। सुखी होने का यही उपाय है। रक्की के काँटों से बचकर चलने में ही भला है। उन्हें उठाकर फेंक डालना ही धर्म है।



: ४ :

स्वतन्त्र राय और सदिच्छाएँ

सब आदमी सब बातों में कुछ-न-कुछ राय रखते हैं। यह ठीक भी है। हमारे जीते रहने का यह सबूत है। पर मुश्किल यह है कि हमारी रायों में बहुत-सी अपनी नहीं होतीं। वह सब होती हैं उधार ली हुई। उधार की रायों से आप कुछ की नजरों में साहिबे राय, रायवाले या रायों के धनी माने जा सकते हैं, पर अपनी नजरों मे आप वैसे नहीं जचेंगे। समझदारों की नजरों मे भी आप वह जगह न पा सकेंगे, जो आप, तब पाते, जब आपके पास बहुत-सी रायें आपकी अपनी होतीं। जो रायें आप अपने-आप बनाते हैं, वह परखी हुई होती हैं, बहुत-सी आजमाई हुई होती हैं। उन रायो से आप दूसरों पर असर डाल सकते हैं। दलील के साथ उनकी रायों को बदल भी सकते हैं। आपकी अपनी रायें आपको मजबूत बनाती हैं। उधार ली हुई रायें भी उधार लिये हुए धन की तरह थोड़ी देर के लिए आपको चकमा दे सकती हैं, पर थोड़ी देर के लिए ही न? उधार की रायों का बल, शराब के नशे से पाये हुए बल के समान, आपको बहस के मैदान मे भडकाये हुए कुत्ते की तरह, लड़ा सकता है और अपने-जैसों पर जय भी दिला सकता है; मगर न वह आपका कुछ भला कर सकता है और न समाज, धर्म या देश का। ज्ञान की बढ़ती हुई दौड़ मे उस बल के बूते आप आगे निकल जाने की उम्मीद न रखें। उधार की रायों की पूँजी पर बने सेठ कभी ऐसा

भी नहीं। मूर्खों पर रौब जमाने के लिए ऐसी रायें बड़े काम हैं।

इनमे यह गुण न होता, तो इतने लोग इन्हे अपनाने को क्यो दौड़ते? धर्म में पैदा होने वाले, किसी धर्म की असली किताबें खुद पढ़े-; बगैर उस धर्म के बारे में जो रायें रखते हैं, वे सब उधार ोती हैं। उनका भण्डार उनके पास बेहद रहता है। बहस के मैदान मे यें उनके हाथ में बन्दूक, तलवार बनकर थोड़ी देर के लिए चमत्कार ा देती हैं। इस चमत्कार से जीवन-महायुद्ध की उस नाचीज लडाई में जय तो पा लेते हैं, पर धर्म का, या नाम वाले धर्म का भी, भला न , कुछ बुरा ही कर बैठते हैं।

समझने के लिए जरा घर की तरफ चलें। हरेक माँ चाँद के दाग़ों बारे में एक राय रखती है। वह उसकी अपनी नहीं होती। वह उसकी ौती है। बाप से बपौती की तरह अगर माँ से मौती शब्द बन सकता है, वह उसकी मौती है यानी माँ से पाई है। वह अपनी इस मौती—बपौती य को अपने बच्चे के दिल मे ठूँस देती है। बालक समझता तो है हीं, वह उसको ऐसे ही सच और बिलकुल ठीक मानने लगता है, जैसे सी कालेज का एक आर्य ग्रेजुएट वेद (भगवान्) में बताई हुई बातो ो; या अमेरिका, बरतानिया, जर्मन, जापान से लौटा हुआ मुसलमान ी-एच० डी० कुरान (शरीफ़) से बताई हुई बातो को। सब धर्म-वालो को अपनी धर्म-पुस्तकों के प्रति ऐसी ही इज्जत होती है। वेद, कुरान, बाइबिल, धम्मपद्, तत्वार्थ-सूत्र, जेन्दावस्था के बारे मे उनको कभी खोले बिना भी, आर्यसमाजी, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैनी, पारसी विद्वान् (ज्ञानी नहीं) बिना झिझके यह राय जाहिर कर देगा कि यह किताबें ईश्वर, खुदा, सर्वज्ञ, बुद्ध की कही हुई हैं, और उनमें कोई बात गलत नहीं है और कि उनमें सब कुछ भरा है।

यह साफ है कि यह उनकी अपनी (अपनी बनाई हुई) राय नहीं होती। बपौती में पाये हुए कपड़े, रुपये, मकान, रिश्तेदार, सरकार, धर्म,

खुदा तक जब कानूनन् हर तरह उनके माने जाते हैं, तब बपौती में पाई राय उन्हीं की क्यों न समझी जाय ? तर्क के तीखे तुरंग पर अटल, आसन-आसीन उनके इन शब्दों को कौन धकेलकर धरती की धूल चखा सकता है ? हाँ, एक है—और वह है उन्हीं का जमीर, उन्हीं का अन्तरात्मा। ऐसा नहीं होता, तो मूसा, ईसा, बुद्ध, महावीर, मुहम्मद कहाँ से आते ? मौलाना रूम, श्रेडला, कबीर, नानक, दादू-जैसी अनेक आत्माओं का जन्म व्यर्थ होता। हाँ, तो वह बालक अपनी माँ का पाठ याद कर लेता है। वह पाठ उसका धर्म बन जाता है। फिर उसको उस चाँद में बुढ़िया चरखा कातती हुई दिखाई देने लगती है। उसकी पौनी से निकलता हुआ धागा उसको साफ दिखाई देने लगता है। अपने इस प्रत्यक्ष प्रमाण (यानी ज्ञान) को लेकर वह अपने मातृ-धर्म के प्रचार का बीड़ा उठाता है और सारी दुनिया को आर्य (अपनी माँ के धर्म को मानने वाला) बनाने वाला झण्डा हाथ में लेकर अपने साथियों में सिंह-गर्जना करता है और पलक मारते वह उनको अपना अनुयायी बना लेता है।

इन अनुयायियों की मदद से उसे दिग्विजय मिलती है। इसे आप आलंकारिक भाषा न समझें। दुनिया-भर के बालक चाँद के बारे में ऐसी या इससे मिलती-जुलती राय रखते हैं। इने-गिने ना-समझ विज्ञानियों या उनके बहकाये हुओं को छोड़कर सब बड़े-बूढ़े भी इस राय से सहमत हैं। आप भी इसी राय के होंगे।

जानी हुई दुनिया को सभा मानकर और इस पर रहने वाले छोटे-बड़े सब को राय देने वाले मानकर, अगर इस बात पर राय ली जाय कि जमीन गेंद की तरह गोल है या थाली की तरह चपटी है, सूरज के चारों ओर घूम रही है या सूरज इसके चारों ओर, गाय के सींग पर टिकी हुई है या हवा पर, तो आजकल के साइन्सदानों को एड़ी-चोटी का जोर लगाकर ही अपनी जीत की उम्मीद रखनी होगी।

आप जरा बीमार पड़कर देख लीजिए। उधार की राय से आपकी

ह की छत बे-कौड़ी-पैसे पट जायगी। यह राय उनकी ही है जो न टरी पढ़े, न हिकमत-वैद्यक, ऐसा नहीं; दस डॉक्टर, दस हकीम, दस भी अपनी छत को ऐसी ही रायों से पाट देंगे।

आज की लड़ाई के बारे में वे तक, जो राधास्वामियों के आदि गुरु तरह बारह बरस से भी ज्यादा अपने-आपको एक कोठरी में बन्द ये बैठे है, खुदा की तरह यह राय जाहिर कर डालते हैं कि जीत किस होगी और हार किसकी। रेडियो पर जाहिर की हुई लड़ाई की रायें, र चाहे वह लन्दन से फेंकी हुई हों, या अमेरिका, जर्मनी, जापान से, न्ने फीसदी उधार ली हुई होती हैं। और मुल्कों की तरह हिन्दुस्तान की रकार लड़ाई के बारे में फैलाई अफवाहों को रोक रही है, और यह ठीक ी है; पर मेरी राय में अफवाहें इतना नुकसान नहीं करतीं, जितनी उधार ली हुई रायें।

अफवाहें अफवाहों से काटी जा सकती हैं; पर रायें रायों से भिड़कर आग पैदा करती हैं, मजबूत बनती हैं। वह एक राय ही तो है कि अरब का एक मालिक है और उसका नाम अल्लाह, खुदा है—हिन्दुस्तान का एक मालिक है उसका नाम अलख व राम है। एक यह भी राय है कि अलख, अल्लाह, खुदा, राम सब एक ही मालिक के नाम हैं। पर ये तीनों रायें खूब टकराती हैं और वर्षों से टकराती रही हैं।

उधार की राये कोकीन की तरह मन को सुन्न कर देती हैं। मन के मुँह में लगे विवेक के दाँत कुछ स्वार्थी उखाड़ लेते हैं और जिनके दाँत उखाड़ते हैं, उनको पता भी नहीं चलता। बे-दाँत के बच्चे की तरह मन बेतुकी रायों के बड़े-बड़े दाँत निकालने लगता है और पेट को खराब कर देता है। जवानो! तुम अपने मन को, अपनी रायों को तजुर्बे की सिल पर रगड़, अन्तरात्मा के आज्ञा-रस में घोलकर पिलाना शुरू करो और उसको कब्ज से बचाओ।

अब देखो, तुम्हारी रायों में से कितनी उधार की हैं और कितनी तुम्हारी अपनी। खाते में अपनी-अपनी रायों का ज्यादा होना जरूरी है। अपनी

ही अपनी हो, तो कहना ही क्या ?

"जाके पाँव न फटे बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई।"

यह एक कहावत है। कहावतें आप-बीती का निचोड़ हुआ करती हैं। इसलिए सचाई का पुञ्ज होती हैं। सच अगर हीरा है, तो वह उसकी कनी होती हैं। आग की तरफ़ अपने छोटे बच्चे को जाते देखकर माँ यह चिल्लाकर चुप नहीं हो बैठती कि आग गरम होती है, तुम जल जाओगे। वह भुगत चुकी है, इसलिए बोलती कम है—या बिलकुल नहीं—वह तो दौड़ती है और उसे वहाँ पहुँचने से पहले रोक लेती है। बच्चा भी मुस्करा देता है और शायद गुपचुप यह कहता-सा मालूम होता है कि माँ, तुम्हारा यह रोकना मुझको जँचा नहीं, मैं आज नहीं तो कल मौका पाकर आग की तकलीफ़ भुगतकर देखूँगा, एक बार उँगली जलाये-बिना उसका आग का ज्ञान धुँधला रहता है। आधी दुनिया के सर मे इस धुँधलेपन की वजह से दर्द रहता है। लाखों आदमी ऐसी युक्तियो, तदवीरो, उसूलों, सिद्धान्तों के जाल में फँसे हुए हैं जिनका कोई आधार नहीं है। इस बे-बुनियाद के सिद्धान्तों ने करोड़ों का दिमाग़ खराब कर रक्खा है।

खास-खास मौकों पर समाज का हम पर ऐसा रौब छाता है कि हम बिना कान-पूँछ हिलाये सरकस के शेर की तरह रूढियों के कोड़े से थरथराते, चाहे—कुछ करते रहते हैं। विवाह के वक्त हम कितने ही पढ़े-लिखे, कितनी ही उम्र के क्यों न हों, अनपढ़ और उम्र मे छोटे पुरोहित के हाथ की कठ-पुतली बन जाते हैं। 'क्या कर रहे हैं ?', 'क्यों कर रहे हैं ?', 'किसलिए कर रहे हैं ?' यह सवाल उठाने की हमे हिम्मत नहीं होती। 'नहीं करेंगे', 'हरगिज़ नहीं करेंगे' की आवाज़ तो फिर उठायेगा ही कौन ? यह बातें हमें भले ही छोटी-सी जँचती हो, पर बीज होने से पेड़ बने बिना नहीं रह सकतीं। तब फिर यही बन की शक्ल अख्तियार कर लेती हैं और हमें अपने में ही भटकाए रखती हैं।

जवानो ! अपनी जानकारी की डायरी आप-बीती की नींव पर बनाओ, पर-बीती को बालू का ढेर समझो। उस पर बनी अटारी कभी भी गिर सकती

ानते यह हैं कि बालू पर भीत बनती ही नहीं है, मालूम नहीं किसलिए, ाह पर-बीती पर अटारी खड़ी करते हैं। हिन्दुस्तान के कालेजों मे ाति का सबसे होशियार प्रोफेसर वही माना जाता है, जिसने राजनीति ावहारिक मैदान में कभी कदम न रक्खा हो और शायद हिन्दुस्तानी र अब लडकियों के मेडिकल कालेज में 'बालक-जनने' मे क्या तकलीफ है, मजबून पर लेक्चर देने के लिए छाँट-छाँटकर लन्दन से बाँझ मेम या करेगी। इस काम के लिए बाल-संतनी (Nuns) और भी ज्यादा ़ रहेंगी।

जैसी सरकार वैसा दरबार, वैसे खिदमतगार, वैसी रैयत भी लाचार। लब यह कि हमारे जवान इसी रंग मे रँगे हुए हैं। उन्हें चाहिए कि वह झा लें कि वह वह हैं, जिसको वह भुगत चुके हैं। वह वह बन जायँगे, वह भुगत लेंगे। तब उनको चाहिए कि वह कदम-कदम पर अटक जायँ र समझ लें कि उनसे क्या कराया जा रहा है? उनका जितना तजरबा है र जितना उनको कुदरत का ज्ञान है; और उनकी जो जानकारी है—वह ने कामों को परखने के लिए बहुत काफी हो सकती है, अगर मेहनत कर ह ऊपर समझाया लेखा तैयार कर लें।

इच्छाएँ जन्म से हमारे साथ हैं, मरते-दम तक रहेंगी। इच्छाओं को ावने कोसा है। हमारी राय में वह शरीर का धर्म है। आत्मा का है या ाहीं, यह अभी जानने की जरूरत नहीं; क्योंकि हम कोरे आत्मा नहीं हैं। ाब यह शरीर का धर्म है तो इनको नाश करने की जरूरत नहीं। कम की ा सकती हैं और करनी भी चाहिएँ। 'अमीर' ने चिढ़कर यह कहा है :—

काट के फेंक दे जड़, नखले तमन्ना की 'अमीर'।
फूल कम्बखत मे आया न कभी फल आया॥

पर इसका भी मतलब यही है कि बुरी इच्छाओं को रोको और भली की हद बाँधो।

इच्छा उस सोच का नाम है, जो हम उस चीज के लिए करें जो हमे जन्म से नहीं मिलीं। कुछ चीजें ऐसी हैं, जो हमे मिलीं तो जन्म से हैं, पर

फिर भी हम उनके पाने के लिए सोचते हैं। इस इच्छा को हम इच्छा नहीं मानते। यदि इच्छा किसी की किताब मे बुरी चीज मानी गई है तो हम सलाह देंगे कि ऐसी इच्छा खूब करनी चाहिए। इस इच्छा को बुरी होने का दोष नहीं लगता। जैसे ज्ञान की इच्छा करना, बल की इच्छा करना, सुख की इच्छा करना, आजादी की इच्छा करना—यह चारों चीजें हमें जन्म से मिली हुई हैं और खूब मिली हुई हैं। इन्हे तो हम भूले हुए हैं, इनकी याद दिलाने के लिए कुछ चीजें चाहिएँ। उनकी इच्छा करना अच्छा है। यों इच्छाएँ दो तरह की होती हैं—एक भली, एक बुरी। किताब, गुरु, औजारो की इच्छा भली है, क्योंकि यह हमको ज्ञान की याद दिलाती हैं, जो हमारे अन्दर है; चाहे जहाँ घूमने की आजादी की इच्छा भली इच्छा है, क्योंकि यह हमे बल की याद दिलाती है; तैरने, उड़ने की इच्छा करना अच्छा है, क्योंकि इससे ज्ञान पाकर हमारी तसल्ली होती है और सुख की याद आती है। आर्थिक आजादी समाजिक आजादी की इच्छा करना अच्छा है, क्योंकि यह आत्मा आज़ादी की याद दिलाती है। किसी की किताब फाड़ डालने की इच्छा करना, पाठशाला को ढा देने की इच्छा करना बुरा है; क्योंकि यह हमे जन्म से मिले ज्ञान से दूर फेंक देने वाली इच्छाएँ हैं। किसी के घूमने-फिरने पर रोक लगाने की इच्छा, परीक्षा में रोकने की इच्छा बुरी इच्छा है; इनसे हम जन्म से मिले बल से दूर पड जाते हैं। मतलब यह कि वह सब इच्छाएँ बुरी हैं, जो दूसरो को दुख पहुँचाएँ और अपनी जन्म से मिली ताकतों से हमे दूर फेंकें।

जवानो, इच्छाओ का आँकडा रखना जरूरी है। बुरी इच्छाओं को कम करते जाओ, अच्छी इच्छाओं की हद बाँधो और ज्ञानी, शक्तिशाली, सुखी और आजाद होने की इच्छाओं को जितनी पैनी कर सको, करो।



: ५ :

धीरता और वीरता

आफ़तें आई हैं, आती है, आती रहेगी। कोई इनसे नहीं बचा।

आफ़तें सभी देह पर ही आती हैं। भूल से यह मन और आत्मा पर आई मान ली जाती है। दुनिया मानने की ज्यादा है। हम जो समझ बैठें, वह हो ही जाते हैं। चाहिए यह कि देह पर आई-मुसीबतो को देह तक ही रहने दें, उन्हे अन्दर दाखिल न होने दें। यह काम जरा मुश्किल है, पर अभ्यास से हो सकता है। देह पर आफत झेल लेने का मतलब यह है कि देह पर कुछ भी आये, अपने सिद्धान्त पर अटल बने रहे। सिद्धान्त पर अटल रहने का मतलब है, अपनी अन्तरात्मा (यानी जमीर) की बात पर डटे रहना। जमीर की बात पर डटना घमंड नहीं है, हठ भी नहीं है, लोग भले ही उसको ये नाम दे डालें। हट और घमंड से भी आफतो का सामना होता है, पर कामयाबी नसीब नहीं होती। रावण और दुर्योधन खूब लड़े और कभी-कभी अब जीते अब जीते-से मालूम भी हुए, पर जीत हुई राम और युधिष्ठिर की। इसलिए नहीं कि राम ने रावण को मार डाला, या दुर्योधन मारा गया; पर इसलिए कि आज के दिन तक राम और युधिष्ठिर सचाई के निशान माने जाते है। हुसैन मरने पर भी जीते थे और जीते हैं। हुसैन को लडाई के मैदान में हराने वाले का, नहीं-नहीं, उनको कत्ल करने वाले का नाम आज बहुत थोडो को मालूम है; और क्यों मालूम हो ? वह जीतने पर भी हारा था। हुसैन है, पर वह कहाँ है ? राम, युधिष्ठिर,

हुसैन अपनी अन्तरात्मा की बात पर डटे रहे और इसलिए उनकी जीत हुई और आज तक जीवित हैं। ये घमण्डी या हठी न थे, नम्रता की मूर्ति थे। स्थिरता और नम्रता बहनें हैं। हठ का नम्रता से कोई मेल नहीं। आफतों पर या उनके कारणों पर जीत बोलने के लिए जरूरत होती है उन जवानो की, जो जिन्दगी के उसूलों पर बहादुरी के साथ डटे रहते है। क्या हमने वैसी आदत डाल ली है ? यदि हॉ, तो आफतें हमारा कुछ न विगाड सकेंगी।

ईसा को क्रूस पर चढ़ाने वाले का नाम कौन जानता है ? ईसा तो आधी दुनिया के दिलों मे घर बनाये बैठे हैं। ईसा ने कौन-सी लडाई जीती थी ? ईसा अपने जमीर की आवाज सुनते थे, और उसी को सुनाते थे।

मौके पर फुरती से, पर बिना घबराये धीरता से काम लेने वाले की जीत हुआ करती है। उतावले बनकर या घबराकर कुछ करना धीर-वीरों का काम नहीं। उतावलेपन का जीत से कोई सम्बन्ध नहीं। बिना विचारे, उतावलेपन से लडाई या लडाइयाँ जीती जा सकती हैं, पर विजय-लक्ष्मी के दर्शन नहीं हो सकते। विजय-लक्ष्मी उतावलो को नहीं वरती; उतावले उसकी नजर पर नहीं चढ़ते; इसे तो धीर-वीर ही सुहाते हैं। 'वीर' धीर होता ही है। धीरता अचानक नहीं मिलती, उसका अभ्यास करना होता है। महाभारत में विजय अर्जुन की नहीं हुई, जीत हुई कृष्ण की या युधिष्ठिर की। हिन्दू कृष्ण को पूजते हैं; युधिष्ठिर को धर्मराज कहकर पुकारते हैं। अर्जुन को वहादुर मानते हैं, महारथी मानते हैं। असल में अर्जुन मन का रूपक है और कृष्ण आत्मा का। मन होता है उतावला। वह कुछ कर सकता है, तो ठीक बनकर। आत्मा होती है गम्भीर। स्थिरता, धीरता, मुस्तकिल-मिजाजी उसकी खासियतें हैं, मन की नहीं। मन आफतों मे फॅसा सकता है, फॅसाने पर रुला सकता है; पर न विजय दिला सकता है और न उनसे छुटकारा। मन का काम है अहंकार, खुदी। खुदी (अहंकार) गिरावट की सीढ़ी का एक डंडा है। गिरावट जीत से दूर होते चले जाने का नाम है। इसलिए मन के चक्कर में फॅसकर तुम अहंकार की तसल्ली पर उतर

गे और समझौते पर राजी हो जाओगे। समझौता आफतों को दम का अवसर दे देता है और इसलिए सुख देता सा मालूम होता है। व में होता यह है कि आफतें दम लेकर दूने जोर के साथ फिर हल्ला देती हैं और फिर समझौता करने वाले को हाथ मल-मलकर पछताना ा है।

समझौता कानों को अच्छा लगता है। हार कानों को कड़वी मालूम ी है, पर समझौता हार से कहीं बुरी चीज है। समझौता हिजड़ा है, औरत है। हार, हार, हार—हारों का जोड़ जीत। समझौता, सम- ता; समझौतों का जोड़ पतन, मौत। हार में देह को हानि पहुँचती है, रों का मन भी दुःख मानता है। कायरों का मन देह से लगाव भी रखता । हार से धीर-वीर का मन दुःखी नहीं होता, कमजोर नहीं होता, उलटा पाता है। जब मन पर ही असर नहीं होता; तब आत्मा पर असर की र्चा करना बेकार है। समझौते में अन्तरात्मा सिकुड़कर रह जाती है। र का मन फुंकारता है। कायर का मन आराम की साँस लेता है। पर र और कायर दोनों ही की देह उस समय तो आफतों से बच जाती है ौर कायर तो पुकार ही उठता है—'जान बची लाखों पाये।' समझौता हुत बुरी चीज है। समझौते की दोस्ती हिजड़े की दोस्ती है। हिजड़ा क पर सदा धोखा देता है। समझौते को साथ लेकर कभी आफतों में हीं कूदना चाहिए। समझौते के साथ कूदने में आफतें घटने की जगह ढेंगी और हम जिन्दगी-भर के लिए दासता के पिंजड़े में बन्द कर दिये ायेंगे।

'लाल' एक छोटा सुर्ख चोंच का खूबसूरत पक्षी है। उसकी मादा को मुनिया' कहा जाता है। लाल मुनिया के लिए लड़ते हैं। लाल लड़ाने ाले खास-खास लालों को मजबूत बनाते हैं। जिस खास लाल ने किसी एक लाल को कुश्ती में जीत लिया तो, उस खास लाल का वह हारा हुआ कहलाने लगता है। उसका नाम ड्योढ़ा क्यों रखा गया, इसका पता नहीं। ड्योढ़ा, शायद इस नाम में 'मेहतर, प्रजापति' आदि शब्दों की तरह कोई

दार्शनिकता हो। खैर, वह ड्योढ़ा कितने ही अच्छे ढंग से बहिश्त में पले, पर ड्योढ़ा ही रहेगा, यानी जब भी अपने जीतने वाले से लड़ेगा, हारता ही रहेगा। समझौते में यही ऐब है। वह आदमी को अपने प्रतिपक्षी का ड्योढ़ा बना देता है। समझौते का अर्थ ही सिद्धान्तों से हटना है। समझौते से हम यह बताते हैं कि हम मूर्ख, असमर्थ हैं; हमारा आत्मा उतना ऊँचा नहीं है, जितना प्रतिपक्षी का। हार से हम यह बताते है कि हमारा आत्मा तो बहुत ऊँचा है, पर हमारी देह निर्बल है, हमारे साधन अपूर्ण हैं। हम प्रबल-देह और साधन-पूर्ण होकर जुटेंगे और जय बोलेंगे। पाण्डव जुए मे हारे थे; आत्म-बल में वे हारकर भी जीते थे। हुसैन साधनों में अपूर्ण थे; धूर्त्तता में हारे थे, आत्म-बल में नहीं। वर्त्तमान लडाई में बहादुर जहाजी कप्तान घिर जाने पर जहाज डुबा देगा; दुश्मन के हाथ मे नहीं जाने देगा। रूसियों ने जर्मनों को खाली गाँव दिये, आत्माएँ नहीं दीं; गाँव रूसियो ने फिर ले लिये। फ्रांस, यूनान, बेल्जियम ने आत्माएँ दीं, फिर गाँव तो गए ही। जब आत्माएँ वापिस लें, तो गाँव मिलें।

यह समझ बैठना भूल है कि वक्त पर हिम्मत हिजड़ों में भी आ जाती है। जरा सोचने पर यह भूल दूर हो सकती है। बिना विचारे हिम्मत कर जाने का नतीजा सफलता हो सकती है, पर बहुत कम। और अगर किसी वजह से हो ही जाय तो टिकाऊ नहीं होती। आम तौर से उसका नतीजा हार ही हुआ करता है। वीर मे सोडा-वाटर जैसा उबाल नहीं आया करता। उसमें निरन्तर दहकती आग रहती है। कारण पाकर ही दहकती आग ज्वालामुखी का रूप धारणकर चमत्कार कर जाती है। वीर अचानक पैदा नहीं होते। वे बरसों की मेहनत से तैयार होते हैं। हाँ, वीरत्व का बीज सब में है; पर उसको वृक्ष का रूप देने में समय लगता है।

समय की सूझ पर लोग भरोसा किये बैठे रहते हैं। वह समय पर कभी न आयेगी। समय की सूझ वास्तव में उस अनुभव-शक्ति का दूसरा नाम है जो हर एक आदमी मे रहती है और जिसके बल पर वह अनेकों कष्ट हँसते-हँसते झेल लेता है। इस दुनिया में भाग्य को भी

है, पर जीवन मे एक ही वार। भाग्य से मिली जीत के सम्बन्ध मे
डे दिल से खोज नहीं की गई; नहीं तो पता चलता कि जीत भाग्य
ीं हुई, किसी और ही की हुई है। अन्धे के हाथ वटेर लग जाने से
शिकारी नहीं माना जा सकता।

अन्तरात्मा, ज़मीर और उसकी बात से कुछ लोग चिढ़ते हैं। वह मन
स्तिष्क को ही सब-कुछ मानते हैं। मन-मस्तक उन्हें कुछ दिखाई-से
, ठीक-ठीक तो वह भी दिखाई नहीं देते। खैर, इस मानवी-मशीन का
 भी बड़ा जबरदस्त पुर्जा है। आइये, उसे समझ लें। अन्तरात्मा
ुलाकर मन के मानने वालों ने मन को दो तरह का माना है। एक
 का मन (Conscious mind) एक भीतर का मन (Sub-
nscious mind) भीतर के मन को वे करीब-करीब अन्तरात्मा-जैसा
मानते हैं। इस अन्तरात्मा से मिलते-जुलते 'भीतर वाले' को भी छोडिये।
र केवल ऊपर का मन है।

मान लीजिये, आप तैरना नहीं जानते। चले गए गहरे मे, वहाँ लगे
ने। इतने मे एक जवान दौडता है और अपनी जान जोखिम मे
लकर आपको बचाता है। उसने क्यों बचाया? क्या इसका जवाब
ना काफी हो सकता है कि उसने डूबते देखा। आँखों ने मस्तक को खबर
। मस्तक ने देह को हुक्म दिया। देह कूद पडी। पाँव तैरने मे मदद देते
। हाथो ने डूबते को घसीट लिया। मानो आदमी नहीं, बचाने वाली
शीन थी। खैर, मशीन नाम से हमे चिढ़ नहीं—वह मशीन ही सही—
र नदी के किनारे खडी और मशीनें क्या करती रहीं?

आदमी मशीन ही सही, पर वह जानदार मशीन है। वह मस्तक,
जिसको तुम एक पुर्जा समझते हो, पुर्जा ही सही; पर वैसा पुर्जा आदमी
की बनाई मशीनों मे नहीं मिलता। आदमी मे वह पुर्जा है। कहाँ से आया,
कैसे आया, इन बातो को जाने दीजिये। देखना यह है कि किनारे पर खडी
अनेकों मशीनों मे से एक मशीन के पुर्जे ने ही इतनी फुरती क्यो दिखाई?
उस पुर्जे के मालिक ने वरसों तैरना सीखा, डूब-डूबकर जान बचाना सीखा,

डूबते हुए बचाने वाले को भी किस तरह ले डूबते हैं, ये सब बातें जानीं, उनके घबराहट में किये कामों से बचने के उपाय सीखे, और तब कहीं उसे वह फुरती से कदम रखना आया जो उसने आज कर दिखाया।

मतलब यह कि अन्तरात्मा की तरह मस्तक को भी तैयारी की जरूरत होती है, और यह कि बडी-बड़ी तकलीफ में होकर ही समय की सूझ-जैसी कला सिद्ध होती है। पहले मन देवता को पहचानना होगा, उसे सबल बनाना होगा। कल्पना-कबूतरी को दरवाजा खोलकर उड़ाना होगा और उसे जबरदस्ती घंटों उडते रहना सिखाना होगा। विवेक-हंस को ज्ञान के मोती चुगाने होंगे, और उससे सचाई के दूध में से झूठ के पानी को अलग करना सिखाना होगा।

इस प्रकार मन को और मन की अनेकों ताकतों को बढ़ाने में स्वार्थ नही है; और उसकी खातिर जिनको छोड़ना पड़े, वह छोड़ना त्याग भी नहीं है। यह सब तो अपने से ठीक-ठीक काम लेना है। अपने से ठीक-ठीक और पूरा काम लेना ही धर्म है। कबीर की इस बात का कि हथेली पर सर रखकर आओ तो ईश्वर मिलेगा, यह अर्थ नहीं है कि रेल के आगे कट मरो। उसने खुद भी तो ऐसा नहीं किया। उन दिनों रेल नहीं; बनारस के किनारे गंगा तो थी। नेक बनने में कोई नेकी नहीं है। नेकी तो नेकी करने में है। नेकी करने में भी इतनी नेकी नहीं है, जितनी नेकी, नेकी कर भूल जाने में है। नेकी कर, नेकी की नेंक चाहें भी, नेंक चैन न लेने देंगी। सुखी होने के लिए उसे भूलना ही होगा। नेकी करना निकम्मों का काम नहीं, कमजोरों का भी नहीं। कमजोर चिडचिड़े होते हैं। चिड़चिड़ेपन से भलाई दूर भागती है।

तकलीफों का सामना करने के लिए मनोबल बढ़ाना ही होगा। मनोबल बढ़ाने से भी ज्यादा जरूरी है, उस मनोबल से काम लेना और यही तो सबक है जो सीखना है। यह सबक पैदा होते ही शुरू हो जाता है। प्रकृति नवजात बालक में भूख का कॉटा चुभोती है। बालक जोर से चिल्ला-चिल्ला-कर जमीन-आसमान एक कर देता है। इससे दूध तो उसे जिसकी गरज

ही है—पर उसके फेफड़े खूब मजबूत हो जाते हैं। यह काम
ाप ही कर सकता है, कोई और नहीं। जवान उम्र के लिहाज से
सामने बच्चा है। उसका यह हक है कि बड़े होने तक दूसरों से
लेए खाना हासिल करे और मजबूत बने। अपने 'मैं' को
ता की नींव पर मजबूत खड़ा कर दूसरों के 'मैं' को समझना आना
और टक्करों से बचना चाहिए। घमंड की नींव पर खड़े 'मैं'
ते हैं। मिल-बैठकर काम करने के लिए 'मैं' का मजबूत होना
है।

ैं'-ओं का ठीक-ठीक निर्वाह ही दुनिया की बढ़वारी कहलाती है।
ो विकास (Evolution) नाम दिया गया है। विकसित 'मैं'
ान लेता है कि सुखी रहना एक कला है। इससे स्वच्छन्दता की
नहीं रह जाती। स्वतन्त्रता प्यारी लगने लगती है और फिर अकेले
हीं, सब मिलकर उस ओर बढ़ने में लग जाते हैं, जहाँ हमें
ना है।

दो शब्दों में, 'हम हैं' के साथ-साथ विचारशीलता जाग जाती है,
ा चमक उठता है। जीते रहने की जरूरत मालूम होने लगती है।
लेए हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम अपने 'मैं' को सच्चा 'मैं'
यें। यही सच्चा 'मैं' हम पर आई आफतों को कम कर देगा, दूर कर
और देह पर आई आफतों को मन या आत्मा तक न पहुँचने देगा।
हम तकलीफों में हँसने का चमत्कार दिखा सकेंगे और सबको अचरज
डाल देंगे।



: ६ :

सुख की राह

आइए, पहले यह समझ ले कि सुख है क्या? लेकिन यह क्या कोई समझने की चीज है? सुख भले ही सैकड़ो तरह का हो, पर मैं तो तभी अपने को सुखी मानूँगा, जब मुझको वह सुख मिले जिसे मैं चाहता हूँ। मैं प्यासा हूँ, मुझे पानी पिलाकर ही आप सुख पहुँचा सकते हैं, न रजाई उढ़ाकर और न धर्म का उपदेश सुनाकर। ठीक, बिलकुल ठीक! प्यासा पानी पीकर ही सुखी होगा; पर न एक घूँट पानी उसको सुखी कर सकता है और न एक घड़ा। उसे एक गिलास ही पानी सुखी कर सकता है। पर क्या मैं आपसे यह पूछूँ कि अगर आप भी प्यासे हों और आपका कोई बहुत प्यारा भी, और पानी हो सिर्फ एक गिलास तब आपका सुख किसमे होगा? तब? तब मेरा सुख होगा, उस प्यासे को—अपने प्यारे को—पानी पिला देने में और खुद प्यासे मर जाने मे। अगर यह बात है, तो आपको सुख का मतलब समझाने की जरूरत नहीं। सुख को सब समझते हैं और खूब समझते है। ठीक समझते हैं। सुख एक ही किस्म का है और वह है उसके मन की भावना मे। फिर दुनिया दुखी क्यो? अपने अन्दर के सुख को क्यो नहीं पा लेती? बात असल मे यह है कि उस अन्दर की चीज पाने को भी चाहिए हिम्मत। हिम्मती ही सुखी है। हिम्मत का ही नाम सुख है। सीता मे हिम्मत थी, चल दी पति के साथ जंगल। जंगल मे नंगे पॉव चलकर पड़े छाले दुख देते होंगे देखने

को, या आज रामायण सुनने वाले भक्तों को, पर वह सीता को दुख ते थे। दुखी थी कम-हिम्मत उर्मिला, जो रिवाजों की दासी बनी और महलों के दुख-सुख भोगती रही। क्यों न चल दी पति के साथ? लिए मैथिलीशरण गुप्त आँसू बहाकर उर्मिलाशरण भले ही बन वाल्मीकि और तुलसी उसे दुनिया के सामने लाने की हिम्मत कर सकते। उन्होंने हिम्मती जानकी को आदर्श मानकर जानकीशरण हने में ही अपना और औरों का भला समझा। जानकी सुखी थी आजीवन सुखी रही। सुखी होने के लिए इस सुखी सीता को नमूना कर रूढ़ियों के काँटों को कुचलते, पाँवों में छाले डालते आगे बढ़ते जाने की जरूरत है।

"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"

यह सूत्र उसके मुँह से निकला मालूम होता है, जो देश-फरोशी, ग-फरोशी, आत्मा-फरोशी करके दुश्मन के हलवे-माँडे पर पलकर ा-ताजा होता जाता है और चैन नहीं पाता तथा सुख जिससे हर घड़ी होता जाता है। वह हिम्मत कर पीले और सफेद टोकरों पर लात ता है तथा खुली हवा में दम लेकर, परिन्दे की तरह चहचहा उठता —

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं,
निजाधीन दुख सुख बन जाहीं।"

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के साथ और किया ही क्या था? उसकी ई हुई हिम्मत जगाई थी। वह दुविधा में था, दुविधा ही दुःख है। वेधा हिम्मत की कमी का दूसरा नाम है। दुविधा यही तो है न? ढ़ियों-रिवाजों का गुलाम बनकर चला जाय या अन्तरात्मा ज़मीर की मबरदारी की जाय? अर्जुन ने यही तो सोचा था, "लोग क्या कहेंगे", सकी परवाह करूँ या "मेरा भगवान् क्या कहेगा" इसकी? उसका भगवान् न? उसके मन में बैठा राम, वही राम तो कृष्ण है, वही राम सात-सौ लोकों की गीता मैदाने-जंग में कुछ सैकण्डों में सुनाकर अर्जुन की कमान

पर तीर चढ़ा देता है। वह तीर चढ़ाने वाला हम-सब के मन में बैठा है। "बस जरा गरदन झुओ, देख लो।"

और हमारे प्यारे नबी, मुहम्मद, ने क्या किया? ईरान, रोम और ईथियोपिया के गुलाम अरबों में हिम्मत फूंक दी। काबे के तीन-सौ-साठ बुत काबे में ही थे; पर हमारे नबी और उनके सच्चे साथियों के दिल में वे लकड़ी के तीन-सौ-साठ टुकड़े थे। बुत काबे की ईंट-पत्थर की तरह नबी की नजरों में, लकड़ी का ढेर थे; तभी तो वह बुतों के वहाँ रहते हुए भी काबे का तवाफ (परिक्रमा) कर गए। नबी बुत-शिकन नहीं थे। वह बुजदिली-शिकन थे। कायरता को कुचल डालने वाले थे। लकड़ी-पत्थर तोड़ते वह क्या भले लगते, उन्होंने तोडी गुलामी, बुजदिली, कायरता। अरबों के दिल से कायरता हटी, हिम्मत आई, बुत दिल से हटे, फिर काबे से भी उठ गए और लकड़ी लकड़ी की तरह काम में आ गई। यह याद रखिये, बुत-शिकनी बुत-परस्ती है। बुत-शिकन बुत को खुदा मानकर उसको तोडने जाता है और दिल में सोचता और कहता जाता है, "मैं तुझे तोडता हूँ, बता तू मेरा क्या बिगाड़ सकता है?" जब कि बुत-परस्त उस बुत को खुदा की याद का एक जरिया मानता है। हमारी जबान क्या है? एक मांस का टुकड़ा, पर उसको हिला-हिलाकर तो हम खुदा की याद करते हैं। कुरान और गीता क्या है? स्याही-रंगे कागज के टुकडे, पर उनको पढ़-पढ़कर हम राम-रहीम को पाना चाहते हैं। कोई बुत-परस्त या नाबुत-परस्त उनको खुदा नहीं कहता और न मानता है! खलीफ़ा उमर ने अरबों का एक बुत और हटाया। काबे में लगे 'संगे-असवद' (काले पत्थर) को चूमते वक्त वे कहा करते थे, "है तो तू एक पत्थर का ही टुकड़ा, पर मैं तुझे सिर्फ इसलिए चूमता हूँ कि नबी ने तुझे बोसा दिया था (चूमा था)।" नबी ने बुतों का तवाफ किया। बुत लकडी बन गए और लकड़ियों में पहुँच गए। खलीफा ने पत्थर को पत्थर कहा, पर उसे पत्थरों में नहीं पहुँचा सके। नबी नबी थे, खलीफा खलीफा। मुसलमानों ने नबी की राह बन्द कर दी और बीसवीं सदी ने खलीफा की। मुझे तो खलीफाओं के बाद मुस्तफा-कमाल ही मुसलमान जँचे, पर पता

उनको इस सदी के कितने मुसलमान मुसलमान मानते हैं ? हाँ, सन्तों सलमान हुए, हुक्मरानों में बहुत कम।

करोड़ों दुखी हैं, दुःख दूर भी करना चाहते हैं; पर राह चलेंगे मन ज़मीर की नहीं। प्रकृति के नियमों को तोड़कर ही चलेंगे। भूखे मरेंगे, रहेंगे या फिर शराब पिएँगे, बेहोश रहेंगे, मदहोश बनेंगे और कपड़ों लदकर चलेंगे। पेट को ठूँस-ठूँसकर भरेंगे, मानो वह किसी बजाज या तवाई के गोद लिये लड़के हैं। मज़ाक उड़ायेंगे किसका ? साइन्स का, न का, यानी अपना। साइन्स आखिर इन्सानी तजरबे का निचोड़ ही तो , उससे चिढ़ क्यों ? रुपये से अगर कोई जहर मोल लेकर खा ले, तो पने सारे रुपयों से चिढ़कर उन्हे फेंक तो न दोगे। यूरोप पागल होकर अगर साइन्स से भूचाल का काम ले, तो इसमें साइन्स का क्या दोष ? इस रह पागलपन होता रहा है, हो रहा है, होता रहेगा। यह पागलपन केसी समझदार को क्यों बेज़ार करे ? ज़िन्दगी के कानूनों को मानकर ही सुख मिलेगा। विज्ञानियों की तरह तह तक पहुँचकर ही सुखी हो सकते हो।

महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद ऐसे ही विज्ञानी थे, जैसे आर्किमीडस, न्यूटन, एडीसन इत्यादि ! ये बिजली और भाप के किस्सों में पड़कर लगे दुःख के कारणों की खोज करने और उन्हें खोज भी लाये। कुदरती कानूनों पर चलकर ही कुछ कर जाओगे, नहीं तो ज़िन्दगी बेकार जायगी।

ज़िन्दगी की आज की समस्याएँ पुराने हल से नहीं सुलझेंगी। पुराने और नये दो अलग रास्ते हैं, वह कहीं नहीं मिलते। माला के दाने सूत से तो मिले रहते हैं; पर वे आगे-पीछे नहीं हो सकते। हम हिम्मत और स्पिरिट तो कृष्ण, वीर, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद की अपनायेंगे, पर हम हम ही रहेंगे। स्टालिन, लेनिन बनने चलता, तो न लेनिन बनता और न स्टालिन। मुस्तफ़ा-कमाल, खलीफा उमर बनने की कोशिश करता तो तुर्की का यह नक्शा ही न होता। गांधी ने गीता पढ़ी, सुदर्शन-चक्र नहीं सम्भाला। जैन उसे जैन कहने लगे, ईसाई ईसाई, मुसलमान मुसलमान, और हिन्दू

हिन्दू। वह तो गांधी ही है और गाधी ही रहकर देह त्यागेगा।[1] तुम तुम बनो। माला में अपनी जगह के मोती बने रहो। हिम्मत के सूत्र के सहारे टिके चमकते रहो।

ठीक है, सरकार ने पुलिस तैनात कर रखी है। वह चोर को पकडेगी। मजिस्ट्रेट उसको दण्ड देगा। जेलखाना बन्द रखेगा। तो क्या इस नाते घर में आये चोर का मुकाबला करना छोड़ देते हो? तुम पुलिस की बाट नहीं जोहते, चोर को पकडते हो और अगर वह हाथापाई पर उतर आता है, तो मुक्के भी जमाते हो। ठीक इसी तरह, जो खुदा करता है, वही होता है। जो तकदीर मे लिखा है, वह भुगतना ही पड़ेगा—क्या इस नाते हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहोगे? अगर ऐसा करते हो तो तुम कम-हिम्मत हो। सुख न पा सकोगे। हाथ, पॉव, मन, मस्तक जो तुम्हारे पास है, वह काम के लिए है, सिर्फ दिखाने की चीज नहीं। खुदा के सच्चे मौतकिद हजरत मुहम्मद हाथ-पर-हाथ रखकर नहीं बैठे; तीर-कमान लेकर फौजी जनरली भी की और बादशाह बनकर अदलो-इन्साफ भी बॉटा। बाप बनकर बेटियों को पाला-पोसा और नाना बनकर धेवतो को पुचकारा ही नहीं; उनके ऊँट बनकर उन्हें पीठ पर चढ़ाया। लेकिन याद रहे, जनरली, बादशाही, बापपन और नानापन—किसी को उन्होने अपने सर पर नहीं चढ़ने दिया। सिपाही को कन्धे चढ़ाया, पर जनरली को मुँह न लगने दिया। जनरली की मुँहजोर घोडी की हड्डियाँ उनके रानों के बीच में हमेशा चर-चर बोलती रहीं। गुलाम तक को सर चढ़ाया, पर बादशाही की शेखी उनके जानुओं की रगड़ से मुँह की राह फेन उगलती रही। खजूर के तिनकों का बिछौना और उनके रूखे-सूखे फलों की खुराक जब बादशाही को मिले, तो वह अकड़ भी कैसे पाये? शायद ही कोई बाप हजरत-जैसा अपनी बेटी को प्यार करने वाला मिलेगा; पर बादशाही की हैसियत से वफात पाने पर भी न एक चप्पा जमीन छोड़ी और न एक कौड़ी नकदी। जो खुदा का मौतकिद और हिम्मत का पुतला है, वह अपनी औलाद के लिए खनकते ठीकरे तरके मे

१. यह लेख गांधी जी के निधन से पूर्व लिखा गया था।

ड़ जाता; उनको दे जाता है हिम्मत का खजाना।

ो किस्मत मे लिखा है, वह होकर रहेगा', 'किया कर्म भोगना ही —यह कहा महावीर स्वामी और बुद्ध भगवान् ने। पर वह कब र-हाथ धरकर बैठे? वह तो बैठ सकते भी नहीं थे। हजरत मुहम्मद शाही कमाई, पर उसे अपनाया नहीं। यह दोनों (महावीर, बुद्ध) ढ़े-ओढ़े आये और उतार फेंका। हिम्मत वालों को दूसरे की दी हुई पसन्द नहीं आती, भगवान् की भी दी हुई नहीं। जिस्म माँ-बापसे था, छोड़ा नहीं जा सकता था, पर उसे छोड़ा—वैसा ही बना रखा किराये के मकान की तरह, भले किरायेदार की हैसियत से, उसे खूब -पोता, पर अपनाया नहीं। ये दोनो राजकुमार राजकुमारपन का कलंक के लिए कुछ दिनों भूखे-प्यासे रहे, पर कुछ ही दिनों; उसके बाद े काम में लगे कि आज ही रेल, तार, हवाई जहाज की दुनिया उनके का हिसाब नहीं लगा पाती। राज-पाट छोड़ना क्या कम हिम्मत का ा है? पर उससे भी ज्यादा हिम्मत का काम है राजपना छोड़ना, जो इन ों राजकुमारों ने यों ही छोड़ दिया। असल मे इन्होंने छोड़ा पुराना ता और निकाली नई सड़क। इन्होने विज्ञानियो की तरह परीक्षण किये र सचाई तक पहुँचे। उँगलियाँ झुलसाईं, हाथ गलाये तब कुछ पाया। न्होंने फटकारें सहीं और आज भी यशोधरा के उलाहने सुन रहे हैं। अपनी ह तुड़वाई, पर सिद्धान्त की देह पर खरोंच तक न आने दी।

समझ लीजिए और खूब समझ लीजिए कि सिर्फ़ सच्चे, पक्के, पूरे ान से जीवन सुखी नहीं हो सकता। उसमें हिम्मत की पुट देनी ही होगी। बिल्ली की गरदन में घन्टी बाँधने की बात तुम अक्ल से सोच सकते हो; पर बाँधने की हिम्मत नहीं—तो सोचने की बात बेकार है। बेहिम्मत वाले के दानी दिमाग को ठस्स ही कहना पड़ेगा। अर्जुन के ज्ञान को हिम्मत का पुट दिया गया था। स्तालिन के ज्ञान पर हिम्मत के कई पुट लगे हुए हैं। वह लोहे का नहीं है; खून, माँस, चमड़े का ही है। पर उसका नाम

लोगों ने लोहे का आदमी रख लिया है ।[1]

और भी आदमी हैं, तुम भी आदमी हो। जो कसौटी औरों के पास है, वही तुम्हारे पास है। फिर तुम अपनी कसौटी पर कसकर ठीक-बे-ठीक की पहिचान क्यों नहीं करते ? तुमको जलेबी बनानी आती हो, या न आती हो; पर तुम खाने पर अच्छा न लगने पर होशियार-से-होशियार हलवाई की कारीगरी में नुक्स निकालने के हकदार हो। क्या करना ठीक है, क्या बे-ठीक, इसे समझ सकते हो और बड़े-से-बड़े वेदपाठी की भूल पकड सकते हो। दूसरो की कसौटी पर कसी बातें न अपनाओ और अगर अपनानी ही पड़ें, तो अपनी कसौटी पर कसकर देख लो। अपनी कसौटी पर कसी बात सच्चे एतकाद के नाम से पुकारी जाती है। उसी का नाम सच्चा विश्वास है। वही सम्यक-दर्शन है। इस विश्वास में बड़ा बल मिलता है। सचाई तुम्हारी ओर रहती है, और तुम्हारा बल सौ-गुना हो जाता है। दूसरो की कसौटी पर कसी बातो मे तुम्हे शक रह सकता है और रत्ती-भर शक लाखों मन अक्ल को बेकार कर देता है, बेजान बना देता है। जीवन मे यह बडे मार्के की बात है। कर्ण के रथ को हाँकने वाला शल्य था। शल्य कहते हैं शक को और कर्ण कहते हैं कान को। शक हमेशा कान की राह दिल-दिमाग़ में दाखिल होता है। सुना-सुनाया धर्म शक से खाली नहीं होता। कर्ण के दिल में अपनी जीत के बारे मे शल्य ने शक पैदा कर दिया था और यों उसको कमज़ोर बना दिया था। अर्जुन भी रूढ़िवादी और शक्की था, कमज़ोर था। उसको गीता सुनाकर, कृष्ण ने शक दूर कर बलवान् बना दिया था। कर्ण की हिम्मत खसोटी गई। अर्जुनमे हिम्मत ठूँसी गई। एक क्षण के लिए भी अर्जुन का यदि कृष्ण (हिम्मत) साथ छोड देते, तो वह खतम हो जाता और अगर कर्ण का शल्य चुपचाप सारथी रहता तो जीत कर्ण की होती। असल मे मन और मस्तक की, मंसल (एक दवा) और पुटास से हिम्मत के धड़ाके का चमत्कार पैदा होता है, या मन और मस्तक के गरम-नरम तारो के मिलने पर हिम्मत की चिनगारी निकलती है और

१. रूसी बोली में लोहे के आदमी को स्टालिन कहते हैं।

र दिखाई दे जाता है, फिर मिल तो जाता ही है।

कृष्ण, यानी अन्तरात्मा या जमीर की सलाह के सिवाय सब सलाह बेकार! सलाह ही नहीं है, अगर वह तुममें हिम्मत न जगा दे, तुम्हारा शक न मिटा दे, तुम्हारे मन और मस्तक को एक स्वर मे न ला दे। विश्वास, लगन, हिम्मत, श्रद्धा, एत्तकाद (Conviction) सबका एक ही मतलब है। एत्तकाद के बिना बाहर का युद्ध हमारे अन्दर घुस बैठता है। दुश्मन से लड़ने की बजाय मन-मस्तक आपस में ही लड़ने लगते हैं। बुद्धि कुछ कहती है, मन कुछ। आत्मा के दो टुकड़े हो जाते हैं। खींचा-तानी मे दुश्मन को मौका मिल जाता है और सुख की जगह दुख आ बैठता है।

दुखी रहना चाहते हो तो किसी की शक न दूर कर सकने वाली नसीहत मानकर न चलो, फिर चाहे वह बाप की हो, गुरू की हो, भगवान् की हो। जब नसीहत के बाद भी शक रह गया, तो नसीहत कैसी? अगर किसी नसीहत से तुम्हारा शक दूर हो जाय, तुममे सच्चा विश्वास पैदा हो जाय, तो उसी को मानकर चल पड़ो; फिर चाहे वह बच्चे की हो, मूर्ख की हो या शैतान की।

सुखी रहना चाहते हो तो यह खयाल दिल से निकाल फेंको कि जो क़ायदे चले आ रहे हैं, वह ठीक है। जो रिवाज चले आ रहे हैं, वह भले हैं। जो पुरानी किताबों में लिखा है, वही आज भी ठीक है। बेशक वह जमीर की, अन्तरात्मा की, कसौटी पर कसी चीजें हैं, पर तुम्हारी कसौटी पर नहीं। अगर तुम्हारी कसौटी पर ठीक उतरें तो अपना लो। फिर वे तुम्हारी हैं, तुम्हारी होकर रहेंगी, तुम्हें सुख देंगी। यही राह सुख को गई है।



: ७ :

अहंकार छोड़ो

जवानो, 'मैं' आदमी का सहारा है। 'मैं' जीवन का बीज है, आदमी का तो है ही। 'मैं' नहीं, आदमी नहीं। 'मैं' को बचाना ही चाहिए। उसके लिए जान भी जोखम मे डाली जा सकती है। 'मैं' यानी सीधा-सादा मैं तो हमे बनाये रखने के लिए जरूरी है; पर टैं-वाला मैं बनी को बिगाड़ने वाला होता है। टैं से न निभी और न निभेगी। लालच की भूख कभी नही मिटती। टैं का पेट भी कोई नहीं भर पाता। टैं में 'मैं हूँ' की भावना रहती है। पण्डितों ने उसका नाम रक्खा है अहंकार। अहंकार का अर्थ है—'मैं'-पन। यह सबमे है। बहुतों में इसने टैं का रूप पा लिया है। हर टैं-वाला 'मैं' अपने अहंकार के पेट को भरने मे लगा है। सारी उम्र लगे रहकर भी वह उसको नहीं भर पाता। 'मैं' की तसल्ली न किसी से हुई, न हो रही है, न कभी हो सकेगी। जवानो, इसकी तसल्ली में लगे, और गये।

अहंकारी अकेले मे जब अपनी खोज करता है, वह सचमुच अपनी ग़लती नहीं पाता। अपने को बिलकुल ठीक पाता है और भी कितने उसको ठीक ही समझते हैं। अहंकार की ऐनक में दिखाई ही ऐसा देता है। अहंकारी को अपने अहंकारी होने का पता भी नहीं होता। वह करे तो क्या करे ! दिक के बीमार को जिस तरह मौत के बहुत पास पहुँचकर अपनी बीमारी का पता चलता है, ठीक इसी तरह अहंकारी को आफ़त में फँसकर ही अपने मे अहंकार के होने की बात सूझती है। अब तीर कमान से छूट

ोता है, वापिस कैसे लौटे ?

ाहंकारी अपने को अहंकारी नहीं मानते। दुर्योधन और दुःशासन को अहंकारी नहीं समझते थे। जुए मे जीत के बाद जीती हुई चीज़ के के वह अपने को हर तरह अधिकारी समझते थे। इसमे उनकी भूल थी ? सब जुआरी यही करते थे। रावण भी आमरण सीता हर लाने ाक ही समझता रहा। अपनी समझ में उसने सचाई के लिए जान भले ही वह औरों के लिए अहंकार की वेदी पर बलि हुआ हो।

हम सब भी अहंकार के साथ ऐसे घुल-मिल गए हैं कि हम अपने को कभी ारी नहीं जँचते; पर दूसरे सब हमे अहंकारी जँचते हैं, दूसरे सब हमको ारी दिखाई देते हैं। यही सबूत है कि हम अहंकारी हैं। जवानो, अपनी बुराई को मान लेने में ही भला है। अहंकार को कुचलकर तुम टोटे मे ोगे। इससे तुम्हारे सीधे-सादे 'मैं' को कोई धक्का न लगेगा। अगर तुम ुच घर, दुकान या समाज के ताना-शाह बनना नहीं चाहते और मुच तुममे किसी के क्रीत-दास या पिट्ठू बनने की कमी भी नहीं है, तो ो अहंकार को भूखा मारने की कला सीख ही लेनी चाहिए। सचाई, ाफ और सहयोग के कदमों में घमण्ड का सिर डाल देना ही अहंकार को ा मारना है। सच से आत्मा ताकत पाती है, इन्साफ से वह आजादी मज़ा चखती है और सहयोग में आनन्द मानती है। सहयोग से प्रेम ालता है। प्रेम हृदयों को जीत लेता है। इन्साफ राज जमाता है। ताकत ज़रानी है। यह बात सब जगह सच उतरेगी, घर में, दुकान मे, समाज मे ोटे और बड़े मामलों मे।

पेट भरने पर अहंकार दास-दासियाँ तैयार करता है; और वही भूखा ाने पर सखा-सखियाँ, भाई-बहन, साथी-साथिनें बनाने लगता है। अब हो, तुम्हे दोस्त चाहिए या दास ? दास मौका पाकर तुमसे ज्यादा अहंकारी । जा मिलेंगे। दोस्त तुम्हारा आजीवन साथ देंगे। राज-युग का खात्मा ुआ, घमंडियों की पंचायत चल बसी। अब ज़माना है भाइयों का, साथियों ा, हमजोलियों का। इकले का व्यापार कम हो रहा है, साझे की दुकाने

चमक रही हैं। अहंकार अध-पेट रह रहा है। भूखों मरने के दिन आ रहे हैं। टैं-वाले 'मैं' को भूखा मारे बिना गुजारा न चलेगा।

तुम कहते हो, दोस्त नहीं मिलते। हाँ, नहीं मिलेंगे। तुम अहंकारी हो, अहंकार छोड़ो तो दुश्मन दोस्त बन जायँ। अहंकार पर पाँव रखकर सचाई को सर झुकाओ, हवा बदल जायगी। अपनी शान बढ़ाकर तुम जीवन में विजयी नहीं हो सकते। अपने को फैलाकर, यानी समाज के सच्चे सदस्य बनकर, जीवन आनन्द से बीत सकता है। जय भी मिल सकती है।

अगर तुममें अहंकार बढ़कर काबू से बाहर हो गया है, तो घबराने की जरूरत नहीं। उससे चरित्र-संगठन का काम लेना शुरू कर देना चाहिए। इस काम के लिए वह पूरा योग्य है। उसका जन्म ही इसीलिए हुआ है; पर समाज-सम्बन्ध में वह बिलकुल ना-तजरबेकार साबित हो चुका है। ऐसे अवसरों पर उसे पास नहीं फटकने देना चाहिए, और हो सके—तो भूखो मार डालना चाहिए। बहुत भावुक बनने से काम न चलेगा। भावुकता के मामलों की ओर ध्यान ही न दो। समस्याओं को समस्या-भर समझो, उनके होकर न रहो। अहंकारवश तुम हर बात को अपनी निजी बात समझ बैठते हो और फिर उसके बिगड़ने-बनने से दुःख-सुख मानते हो। यही तो भूल है। इसे सुधारों-समस्याओ और उनके हल के अनुभव से ज्यादा कुछ न समझो, और फिर उसका उन अनुभवों से मौके पर फ़ायदा उठाओ।

टैं मे आकर कुछ कर बैठना कोरा गँवारपन होता है। टैं को कुचल डालना जिन्दगी पर बड़ा गहरा असर डालता है। इस असर की पहुँच सब ओर होती है। बाप ने टैं मे आकर प्रह्लाद को खो दिया। घर वालो की टैं से मीरा हाथ से निकल गई। तुम भी अपनी टैं में अपने को न खो बैठना। अहंकार मारकर अपने बेटे तक को अपनी बात प्यार से समझानी चाहिए। उसकी मुहब्बत को बराबर के बनकर हासिल करना बुरा नहीं। अपने बड़े कह गए हैं कि सोलह वर्ष का बेटा, बेटा नहीं, दोस्त होता है। बापपन की टैं छोड़े बिना वह दोस्त नहीं बन पायेगा। बेटे के दोस्त बनने से बापपने को कोई धक्का नहीं लगेगा; क्योंकि तुम तो उसको दोस्त समझ-

ाई और इन्साफ के साथ अपने कामों का मेल बिठाना चाहते हो। साथ इन्साफ के वक्त बराबर का बर्ताव करने से तुम उसकी नज़रों र भी ऊँचे उठोगे। वह अब तुम्हें कोरा बाप ही न मानकर गुरू भी ने लगेगा; पर तुम यह काम गुरू बनने के लिए थोड़ा ही कर रहे तुम्हारी गरज़ तो अपने को ठीक बनाने की है।

अहंकार से तुमको बेजा आत्म-बलिदान का रोग भी लग सकता है। आत्म-त्याग से तुम अपना नुकसान भी कर सकते हो। अहंकार को ा मारकर तुम उस बीमारी और नुकसान से बच सकते हो। ज़बरदस्ती ये दान-त्याग, और दिखावे के धर्म के नाम पर किये परमार्थ से बढ़कर र्शनिको को और कोई चीज न मिलेगी, जो आत्म-शुद्धि में बाधा डाल के। उस दान को लेने वाले, उस त्याग से फायदा उठाने वाले, उस पर-ार्थ को उपयोग में लाने वाले, अपनी आत्मा को मैला कर लेते हैं। उस ान, त्याग और परमार्थ से जो सड़ाँद निकलती है, वह समाज की सेहत को बिगाड़ कर उसे सदा को रोगी बना देती है।

मैं और हैं-वाले 'मैं' का अन्तर कभी न भूलना। हैं-वाले 'मैं' को छोड़ने की बात कही जा रही है; 'मैं' छोड़ने की नहीं। भूखे मर जाओ, पर उसके हाथ का दिया न खाओ जो सच्चा आनन्द मानकर तुमको नहीं खिलाता। बीमारी में कराहते रहना पसन्द करो, पर उसके हाथ से दवा स्वीकार न करो जो सच्चा आनन्द मानकर तुमको दवा नहीं दे रहा। मतलब यह कि सच्चे मन से न किये उपकार का बोझा अपने ऊपर लादकर आत्मा को न दबाओ। यह अहंकार नहीं है, सच्चे 'मैं' की शान है, पहचान है। ऐसी आत्माएँ ही फलती-फूलती और फैलती हैं।

आदमी हिल-मिलकर रहने वाला प्राणी है। अहंकार हेल-मेल में टाँग अड़ाता है। यों, इसको भूखों मारने की कही जाती है। हिलमिल कर काम करने का यह मतलब हरगिज़ नहीं है कि औरों के साथ मिलने में तुम अपने गुण ही खो बैठो। तुम्हारी विशेषताएँ तुम्हारे साथ रहनी ही चाहिएँ और वे हेल-मेल से और भी फूलें-फलेंगी, मुरझाएँगी नहीं। औरों

की विशेषताओं को तुम अपनी भी कैसे कह सकते हो और अगर अपनाने की कोशिश कर कुछ अंशों में अपना भी लो, तो निभाव न हो सकेगा और जल्दी ही हेल-मेल में फर्क आ जायगा। अहंकार भूखा मर सकता है, झगड़ा नहीं करता। हेल-मेल में अहंकार को झुकाने की बात हम कह ही नहीं रहे। हम सिर्फ यह कह रहे हैं कि हेल-मेल में अहंकार को खुराक न दो। हेल-मेल पर अहंकार को पालो नहीं। हेल-मेल में तो हम समय की पुकार और जरूरतों को झुकते हैं, न कि एक दूसरे को। मातृभूमि, यानी मादरे-वतन को एक-एक के झुकने और मिलकर झुकने मे, किसी के अहंकार को झुकाना नहीं पड़ता। किसी के घर मे आग लग जाने पर किसी को कन्धे पर पानी का घड़ा उठाने मे कोई झिझक नहीं होती। 'मैं' खुशदिल है, 'टै' वाला 'मैं' खिसियाया चुप बैठा रहता है। पटरी से रेलगाड़ी उतर जाने पर सब पत्थर उठाने मे लग जाते हैं, कोई एक-दूसरे की ओर नहीं देखता। मतलब यह कि समय को झुकाने मे 'मैं' बनी रहती है, 'टै' आ ही नही पाती।

जवानो, अहंकार को मजबूत करने की बात छोड़ो। 'मैं' बिना न तुम्हारा भला होगा, न समाज का, न देश का। दूसरो को झुकने की बात हम कह ही नहीं रहे। मिलकर छान उठाने मे तुम किसी को नहीं झुकते; अगर झुकते हो, तो छाया मे बैठने की ज़रूरत को, जो सबके काम की चीज है। मिलकर दुश्मन का मुकाबिला करने मे तुम किसी को नही झुकते; अगर झुकते हो, तो उस आराम को, जो उन्हे भगाकर पाओगे। मिलकर मुल्क को आज़ाद करने में तुम किसी को नहीं झुकते; अगर झुकते हो, तो उस आजादी की देन को जिसको झुकने मे तुम्हारा 'मैं' बढ़कर दुनिया में फैल जायगा। और यही जिन्दगी का मकसद है।

यह सब होगा 'मैं' की 'टैं' का पेट भरना छोडने से।



: ८ :

काबलियत बनाम चापलूसी

तुम कामयाबी की सोचते हो, सफ़लता के राग अलापते हो। अलापे जाओ, देह इस तरह आजीवन तो मिलनी नहीं ! वह न मर्द है, न औरत। उसमें न दिल है, न दिमाग़। वह न रीझती है, न खीजती। वह तुम्हारे सोचने और प्रार्थना करने से कभी तुम्हारे पास न आएगी। आजकल प्रार्थना के सबसे सच्चे विश्वासी हैं महात्मा गाधी। वह भी प्रार्थना मे दिन का बहत्तरवॉ हिस्सा खर्च करते हैं और वह भी वह हिस्सा—जिसको करीब-करीब सारी दुनिया आधा मुर्दा बना रहने में खो देती है। बाकी इकहत्तर हिस्से, यानी तेईस घंटे चालीस मिनट उनके काबलियत देवी की पूजा मे ही जाते हैं। और क्यों न जायॅ ? उसीने तो उनको महात्मा बनाया है। नाम के महात्मा तो हिन्दुस्तान मे इतने हैं कि उनकी नामों की फेहरिस्त से एक जिल्द तैयार हो सकती है; पर काबलियत से बना तो यह अकेला महात्मा है। काबलियत वाले सभी महात्मा होते हैं। क़ाबलियत से झिझक दूर हो जाती है। झिझक है क्या चीज ? यही कि यह पता न होना कि "मैं हूॅ क्या ?" 'मैं हूॅ क्या ?' के जवाब बताने मे क़ाबलियत बडी मददगार होती है और यों झिझक को दूर करती है। क़ाबलियत आत्मा के चमकाने में सैक़ल यानी रेगमार का काम करती है। यों ही तो क़ाबलियत वाला वहॉ भी रास्ता निकाल लेता है जहॉ औरों को रास्ता नहीं मिलता।

सवाल हो सकता है कि काबलियत क्या चीज है ?—काबलियत उस

गुण का नाम है, जिसके जरिये हम आफ़तो के जाल मे फँसकर विना घबराये उससे निकल भागने की गली पा लेते हैं ! वह अफ्रीका के साहरा मे और अन्ध महासागर की लहरों पर कुतुबनुमा बन जाती है। वह घटाटोप अँधेरी मे विजली की तरह कौंधने लगती है। वह डूबते को तूँबी और मरते को रसायन है। वह भरोसे का हथियार तो है ही, पर कभी न साथ छोड़नेवाली भी है। मुश्किल यही है कि यह कावलियत की देवी जल्दी खुश नहीं होती, पर इससे क्या ? है तो काम की चीज। जवानो, जवानी इसी के खुश करने मे बिता दो, टोटे मे न रहोगे। इससे जिसकी आँख लग गई, वह बुड्ढा भी हो तो जवान हो जाता है और जवानों से कहीं ज़्यादा ज़ोर से इसके पीछे लग जाता है। ईरान के मशहूर कवि सादी की आँखें चालीस की उम्र में इससे चार हो गईं। फिर क्या था ? इसी के हो गए और चमक गए और चमक रहे हैं। इसे देखते ही चिल्ला पड़े थे, गये यों ही वचपन के चालीस साल। दर्शन करते ही अधेड़ बच्चा बन गया।

बच्चा हजार बार गिरकर भी खीजता नहीं, घबराता नहीं, ऊबता नहीं, ना-उम्मीद नहीं होता, खुश-खुश उठता है और फिर गिरने के लिए चल पड़ता है ! क़ावलियत 'सखी' उसे मिल ही जाती है। जवानी में यही गिर-उठकर चलने-पड़ने की हिम्मत नब्बे तक रह जाती है, अधेड़ में और भी कम, और बूढ़े मे बहुत कम। गिर-उठकर चल पड़ने की ताक़त का नाम ही बचपन-भरी जवानी है। बच्चा चलना सीखने मे किसी की खुशामद करना पसन्द नहीं करता, उँगली पकड़कर चलना चाहता नहीं, चलने के लिए मजबूर किया जाता है। यों ही तो वह कावलियत 'सखी' को पा लेता है। उँगली पकड़कर चलना पहले तो बच्चे को बुरा लगता है, फिर उसमें लुत्फ़ आने लगता है, फिर चाट पड़ जाती है, आलस और सुस्ती बढ़ने लगती है और चुड़ैल चापलूसी हँसी-हँसी आकर हाथ पकड़ लेती है और सखी बन बैठती है। चापलूसी भी है बड़े काम की चीज; बडी दूर तक ले जा सकती है, गुलाम को बादशाह बना सकती है, गुलाम-वंश का राज हिन्दुस्तान देख चुका है। गुलाम-वंश मे बेटे को गद्दी नहीं मिली। क़ावलियत देवो ने

। वरा, गद्दी उसे ही मिली और उसी से सँभली ।

चापलूसी जल्दी ही खुश होती है और जल्दी ही चमत्कार दिखाती भी तो लोग उसे अपनाते हैं। भरोसे की चीज वह नहीं है और कोई ।।भिमानी जवान उसको मुँह लगाना पसन्द न करेगा । भारत के प्राचीन ास की दोनों पुस्तकें, रामायण और महाभारत, क़ाबलियत देवी की । मे किये हुए प्रयत्न और उठाये हुए कष्टों की कथा के सिवाय और हैं क्या ? तभी तो वह एक भारतीय जवान मे रूह फूँक देती हैं। स्कूल-ेजो मे पढ़ाई जाने वाली हिन्दुस्तान की तवारीखें चापलूसी की फतह कहानियाँ हैं, जो भारतीय जवान को नामर्द बनातीं, चापलूसी से दोस्ती ातीं और हिन्दुस्तान-भर का नहीं तो, प्रान्त का नक्ली शासक तो बना ही ी हैं। नौकर से शाह बनना फिर उसे रुचता ही नहीं। वह चापलूसी के ह लगता है कि उसकी खातिर जान देने के लिए तैयार रहता है। लागू ार की तरह उसे अपनी देह का ध्यान ही नहीं रहता। जवानो, चापलूसी ुडैल से बचना ही होगा। चापलूसी को समझ लेना-भर ही उससे बचने के लिए काफी है। चापलूसी और गुलामी बहनें-बहनें हैं। चापलूसी को अगर क़ाबलियत की सौत होने का मौका हाथ लग जाय तो वह मिनटों मे उसको पति की नजरों से गिरा देती है। चापलूसी रहते वह उसकी याद ही भूल जाता है। वह चापलूसी को ही अपनी तरक्की का सबब समझने लगता है! चापलूसी-पति कितना ही ज्ञानी और विद्वान् क्यों न हो, वह अपनी तरक्की औरों के तलवे सहलाने और पंखा झलने मे ही समझेगा। नौकरी तो उसे बादशाही जँचती है। चापलूसी-पति कितना ही सफल व्यापारी क्यों न हो; और यदि तीसरी स्त्री लक्ष्मी भी उसके घर में जीती-जागती हो, तो भी वह चापलूसी चुडैल के इशारे पर एक-न-एक दिन कुछ चीज़ ले, थानेदार के सामने हाथ जोडकर खड़े होने में ही अपना भला मानेगा। चापलूसी आत्माभिमान को निकाल बाहर करती है, हिम्मत को घता बता देती है। अन्तरात्मा से बात करने का अवसर ही नहीं देती और असल में

वह अपने पति का कोई काम भी तो अटकने नहीं देती। चापलूसी अपने पति के पतन पर पलती है। आत्मविश्वासी स्वाभिमानी के पास यह एक पल नहीं टिक सकती।

राम और युधिष्ठिर, दोनों ही आत्म-विश्वासी थे। चापलूसी से इन दोनों को आसानी से राज्य मिल सकता था, पर दोनो ने ही चौदह और बारह वर्ष जंगल मे रहकर क़ाबलियत देवी को पुष्ट करने मे खर्च किये और चापलूसी चुड़ैल को मुँह न लगने दिया। समझौता चापलूसी का गुप्त हथियार है। इसे धोखे से काबलियत का अस्त्र न समझ बैठना। समझौते के मौके पर हज़रत मुहम्मद् हिराकी गुफाओं मे बैठकर क़ाबलियत देवी से अकेले में सलाह करते थे और यों चापलूसी के डाले डोरों से साफ बच जाते थे। एक राम है, राम अल्लाह है, इस खयाल को फैलाकर वे चापलूसी को दुनिया के परदे से नेस्तनाबूद कर देना चाहते थे। और इसीलिए उन्होंने यह भी बताया कि सिवाय खुदा के दुनिया पर और किसी की सल्तनत नहीं हो सकती; पर दुनिया राम-रहीम को छोड चापलूसी की ही बनी रही। अगर वह क़ाबलियत को भी अपनाती तो जल्दी अपने को जानकर परमात्मा को भी जान लेती, और अपने ऊपर आफ़तें बुलाने से बच जाती। वह न होना था, न हुआ। न सही।

जवानो! कोई चापलूसी में फँसे, पर तुम न फँसो। तुममे सौ बार गिर-उठकर चल पड़ने की हिम्मत और ताकत है। तुम काबलियत को हासिल करो, योग्यता को वरो, उँगली पकड़कर चलना छोड़ो। पैरों की लड़खड़ाहट खयाली है। असल मे है ही नहीं। सहारा छोड़ा और गई। सहारा हटा, विश्वास उपजा और बल बढ़ा। बल बढ़ा, समझ आई और धोखा दूर हुआ। धोखा दूर हुआ और आत्म-शक्ति का पता चला और फिर विचार-स्वाधीनता, बोलने की आज़ादी, मुल्की आज़ादी, रूहानी आज़ादी, सब तुम्हारी है।

क़ाबलियत की तलाश मे निकलो, योग्यता को अपनाओ, जानकारी

ग्रो, जंगलो मे भटको, बरफीली घाटियो पर चढ़ो, समुद्र में गोता
ओ, काबलियत लेकर आओ और फिर देखो—कौन है, जो तुम्हें नहीं
ा ? कौन है, जो तुम्हारे पास दौड़ा नहीं आता ? कौन है, जो तुम्हारी
ाढी मे रोडा अटकाता है ?



: ६ :

ज़िन्दगी के बुनियादी उसूल

दिल शीशा है, इसे निराशा की ठेस लगी और फूटा। दिल फूल है, इसे ना-उम्मेदी की हवा लगी और मुरझाया। हिम्मत हीरे जितनी सख्त है सही; पर निराशा की चोट खाकर चूर-चूर हो जाती है। निराशा असल मे पूरे अंधे आदमी को बखेर देती है। निराशा की चोट हिम्मत के हीरे पर भूकम्प की तरह एकदम अचानक पड़ती है। चोट खाने वाला धक-से रह जाता है। कलेजा कॉपने लगता है। ऑखो के आगे अँधेरा आ जाता है। पाँव लडखड़ाने लगते हैं। दम निकलने-सा लगता है। ऐसी चोट क्या भुलाई जा सकती है? उसका तो घण्टा, मिनट, सैकिण्ड तक मन पर अंकित हो जाता है। यही ना-उम्मेदी धीरे-धीरे आदमी के दिल को घुलाती रहती है। महाभारत में शल्य ने कर्ण में निराशा ही तो पैदा की थी, और आखिर वही उसको खा गई। निराशा बड़ी जल्दी चिन्ता मे बदल जाती है। और चिन्ता-चिनगारी से कौन वाकिफ़ नहीं है?

चिन्ता हम करते इसलिए है कि निराशा को जी-तोड़ कोशिश के जरिए निकाल बाहर करें; पर लोगों को यह पता नहीं कि चिन्ता निराशा की बेटी है। वह मॉ को क्या मार भगायेगी? नतीजा यह होता है कि निराशा पागलपन में बदल जाती है और आदमी समझ बैठता है कि वह सब-कुछ पा गया। सभी पागल अपने को राजा या ईश्वर समझते हैं और अपनी स्वप्नों की दुनिया में मस्त रहते हैं। उनके लिए ठीकरे हीरे बन

हैं, चीथड़े रेशमी कपड़े, और खण्डहर महल। निराशा मेहनत से
लेगी। वह बीमारी है; बीमारी में कसरत मना होती है; पर आराम
। जरूरी होता है। निराशा में शान्ति की जरूरत होती है, चैन से
ो की जरूरत होती है। निराशा मन की बीमारी है। मन के पाँव के
। से जमीन खिसक जाने का नाम ही निराशा है। निराशा में मन
हारे रह जाता है। अब उसे आराम करने की बात भी शायद ही भावे।
ले चारपाई बताओ, पीछे आराम की बात कहो। मन की चारपाई है
ी; ना-उम्मेदी का वह सहारा है। चारपाई कितनी ही टूटी क्यों न हो,
हारा होती है।

भंग के नशे की तरह निराशाओं में तरंगें उठती हैं। बहुत ऊँची तरंग
अपना कुछ पता नहीं रहता। मामूली तरंग में निराश होने का ज्ञान
। रहता है; पर आदमी कर कुछ नहीं सकता। हलकी तरंग मे निराशा
ा ज्ञान रहता है, साथ मे थोड़ी-सी हिम्मत भी उसको दूर करने की
हती है। यही अवसर है, जब निराश को यह मान लेना चाहिए कि
वह निराशा के नशे मे है। जिन्दगी मे कभी ऊँची लहर पर और कभी
नीची पर, होना जरूरी है। इसी तरह आशा के साथ रहकर निराशा के
साथ रहना भी जरूरी है। निराश होना बुरा नहीं, निराश बने रहना
बुरा है। गिर गए, तो गिरे-पड़े न रहो। उठो, जोर लगाओ, उठ सकोगे।
कुछ गिरते हैं, उठते है; गिरते हैं, फिर उठते हैं। कुछ गिरते हैं, पड़ रहते
हैं, फिर उठते हैं। कुछ गिरते हैं तो गिर ही पड़ते हैं। यह बहुत बुरे। यह
ठीक है, गरमी और जाड़े मे कभी-कभी बादल होते हैं और बरसात मे
हफ्तों छाये रहते हैं; पर यह तो ठीक नहीं कि धूप ही न निकले। कफ-प्रकृति
वाले गिरते है, गिरकर उठते है, देर से उठते सही। हाँ, वात-प्रकृति वालों
जैसी तेजी-तर्रारी उनमे नहीं है, न सही। पित्त-प्रकृति वालों का हँस-मुख
चेहरा, फुरतीला बदन, आशा-भरा मन देखकर क्या उदास प्रकृति के लोग
उदासी छोड़ने का सबक न लेंगे? हमारी पैदायशी खासियतें ना-उम्मेदी में
दूसरों की अड़चन क्यो बने?

यहाँ यह याद रहे कि सुस्त आदमी चुस्तों के साथ रहकर कभी-कभी और भी सुस्त बन जाते हैं और वह ही अपने से ज्यादा सुस्तों में रहकर चुस्त बन जाते हैं। पैदायशी खासियतें बदली नहीं जा सकतीं—न सही, उनसे फ़ायदा तो उठाया जा सकता है। "जो है, सो सही" की आदत बहुत बुरी। यह आदत आदमी के पैर पकड़कर बैठ जाती है; आगे बढ़ने ही नहीं देती और बढ़ना जरूरी है। राम, युधिष्ठिर को छोड़िए, उनका इतिहास अंग्रेजों को ठीक-ठीक न मिला, न सही; चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्षवर्धन, अकबर, शाहजहाँ का गरम[1] हिन्दुस्तान जब ठण्डे बरतानिया से कई गुना चढ़ा-बढ़ा था, तो आज तुम्हारा हिन्दुस्तान दुनिया में वही स्थान क्यों नहीं पा सकता ? मैं यह कह रहा हूँ कि पैदायशी खासियतें कुछ भी रहा करे; हमें तरक्की करने का मौका है और ना-उम्मेद होने की जरूरत नहीं।

जो कुछ तुम हो, उसकी शिकायत क्यों करते हो ? तुम्हारे वैसे पैदा होने में कुछ मतलब है। अगर तुम सुस्त पैदा हुए हो, तो क्या ? कवि और दार्शनिक तो बन सकते हो ! इन दोनो की देश को कम जरूरत नहीं रहती। वह सुस्त रहकर भी औरो को चुस्त बना देते हैं। वह निर्बल होकर भी निर्बलों में बल फूँक देते हैं। वह सोते रहकर भी, रो रोकर बराबर शोर मचाकर औरों को जगाते रहते हैं। वह असल में सुस्त नहीं हैं, सुस्त बदन में चुस्त आत्मा है। द्रौपदी लड़ी नहीं; पर उसकी एक आह, उसका एक आँसू, पाँचों पाण्डवों के द्वारा, दुनिया तहस-नहस कर डालने के लिए काफ़ी था। अपने बालों की लटें दिखाकर श्रीकृष्ण से क्या उसने कौरवों का मटियामेट नहीं करा दिया ?

हाथ-पाँव की तरह हमारा स्वभाव भी हमारे साथ आया है और साथ

१. अंगरेजों का कहना है कि हिन्दुस्तान गरम मुल्क है, यहाँ के रहने वाले सुस्त होते हैं, ज्यादा तरक्की नहीं कर सकते; बरतानिया ठण्डा मुल्क है, वहाँ के रहने वाले मेहनती होते हैं और तरक्की कर सकते हैं।

लेगा। उसका रोना भी क्यों रोना? उसको हटाने की कोशिश बेसूद ।उससे काम लेने मे नफ़ा है, उसके दास बनने मे नहीं। हठ उसकी ःगी, हमारी रहेगी। उसे हम अपने पूरेपन को बखेरने न देंगे; बँधेपन ोलने न देंगे। हमारा कमज़ोर बदन ना-उम्मेदी लाये और लाये; ारी ज़बान पर ना-उम्मेदी न आने पाये। आशा न रही, तो निराशा भी हेगी; भले दिन न रहे तो बुरे दिन भी न रहेंगे; तन्दुरुस्ती न रही, तो ारी भी न रहेगी; हँसी न रही, तो रोना भी न रहेगा।

गिरते क्यों हैं? इसका जवाब सीधा और साफ़ है। जानते तुम हो, र पूछते क्यों हो? लो, सुनो—ज़मीन ऊबड़-खाबड़ है, मन चंचल है, ान बटता है, देह का सन्तुलन बिगड़ता है, ज़मीन में खींचने की ताक़त ! गिर जाते हैं; पर गिरते तुम कभी-कभी हो, दिन में एकाध-बार; सारे ःन तो ठीक चलते रहते हो। फिर तुम सारे दिन की बात सोचकर एकाध-ार की बात ही क्यों याद रखते हो? गिरने-वाले तुम तो हो नहीं, तुम तो चलने-वाले हो। पचास-सौ बरस मे कभी एक बार मौत आती है, फिर उस कम्बख़्त को रोज़ क्यों सोचते हो? जिन्दगी की सोचो, जो दिन-रात तुम्हारे साथ रहती है। तुम मौत नहीं हो, जिन्दगी हो। ना-उम्मेदी आई है, मेहमान है; कुछ देर रहकर चल देगी। आशा तुम्हारी सगी-सहोदरी है। वह न गई है और न जायगी। तुम मेहमान से बातों मे इतने मस्त हो गए हो कि अपनों की सुध ही भूल बैठे हो। मेहमान को कुछ देर इस तरह अपनाना ही चाहिए। मेहमान के तुम मेज़बान हो, वह नहीं। मेहमान तुम नहीं, मेज़बानी का रिश्ता थोडी देर का! फूस की आग की गरमी, साधू की मुहब्बत, मुलम्मे की चमक, बादल की तस्वीरें, स्प्रिट का रंग—जैसे आये-गए होते है, वैसे ही ना-उम्मेदी आई-गई समझो! समझो क्या, आई-गई है ही। तुम्हारा 'मैं' जब भूल से ना-उम्मेदी को अपना बैठता है, तभी तुम, तुम न रहकर ना-उम्मेदी बन जाते हो। तुम नाउम्मेदी नहीं। चोर चोरी का काम तो दस-पाँच मिनट, घण्टे-दो-घण्टे करता है, बाईस-तेईस घण्टे तो वह चोरी नहीं करता; पर रिश्ता जोड बैठता है उस

उदास कभी-कभी; दोस्त सौ के, दुश्मन किसी-किसी के; निडर सौ दिन, डरते हो कभी-कभी; पर हाल तुम्हारा यह है कि तुम अपने को उदास, दुश्मन और डरपोक समझते हो। छोड़ो यह गलतखयाली! तोड़ो यह मिथ्या विचारधारा! तुम वह हो, जो तुम ज्यादा देर रहते हो। उबलते पानी ने किसी को जलाकर अपने को आग नहीं कहा और आग ने सीता और खुदाबख्श[1] को न जलाकर अपने को पानी कहना नहीं शुरू कर दिया। फिर तुम ही उलटी चाल क्यों चलते हो? निराशा का इलाज तुम्हारे अन्दर ही मौजूद है। गिरते-गिरते सम्हलने की काबलियत तुम में है। मानो तो, तुम-तुम हो, तुम्हारे सब गुणों पर तुम्हारा अधिकार है। तुम्हारी देह तुम्हारी है, तुम हुक्म दो तो वह सब तुम्हारा कहना मानेंगे। आदमी सृष्टि का सब से बड़ा चमत्कृत प्राणी है। यह दिमाग की साफ स्लेट लेकर जनमता है; जो चाहे उस पर लिख सकता है। कबूतर के दिमाग की स्लेट पर तिनकों के घोंसले की तस्वीर बनी है। वह वैसा घोंसला बनाता है और बनाता रहेगा; पर आदमी तो अपनी स्लेट पर गढ़ी, बॅगला, महल, मन्दिर, मस्जिद, पुल, सुरंग जो चाहे बना ले। तुम आदमी हो—जो चाहो अपनी कोशिश से बन सकते हो और जो चाहो बना सकते हो। फिर निराशा को अपना क्यों समझे हुए हो? उससे तुम्हारा कोई रिश्ता नहीं, यह तुम क्यों भूल जाते हो?

हिन्दुस्तान में पैदा होने के नाते तुम हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तान के मालिक। ग़लत या सही, यहाँ अंग्रेजों का राज होने के नाते, तुम अंग्रेजी राज-प्रजा। अब बताओ, तुम दोनों में से क्या हो? प्रजा तुम थे नहीं और रहोगे भी नहीं। मालिक तुम थे ही, और रहोगे। अब तुम अपनी स्लेट पर अंग्रेजी राज की प्रजा ही लिख लो, तो कोई क्या करे? निराशा ऐसा ही राज है जो तुम्हारे दिल पर आ जमा है। निराशा का राज रहेगा नहीं। तुम उस राज से इतने जकड़ गए हो कि हाथ-पाँव नहीं हिला

---

1. खुदाबख़्श एक आदमी है जो आग पर चल लेता है।

—न सही, उसे अपना राज तो न कहो। निराशा को अपनी मानकर गोद मे बिठा, आशा के बैठने के लिए तुम जगह ही न छोड़ो—फिर क्यों आने लगी।

निराशा अगर बीमारी है और तुम उसके बीमार हो, तो क्या हाथ-पाँव ना छोड दोगे? बीमार उठते-बैठते हैं, बातें करते है, जल्दी-जल्दी ही, धीरे-धीरे चलते हैं, तन्दुरुस्ती की चाह बनाये रखते हैं और हालत मे काम भी करते रहते हैं। निराशा अगर अँधेरा है, तो चलना । छोड़ा जा सकता? अन्धा होकर भी आदमी चलता रहता है। अँधेरी । मे, अँधेरे में हम सब भी टटोल-टटोल कर और अन्दाजे से चलते हैं, ानी की चाह और आदतें कायम रखते हैं। अपने-आपको उजाले के नवर ही मानते हैं। कभी अँधेरे के जानवर, उल्लू, चमगादड़ नहीं नभते। निराशा अगर नदी की बाढ़ है, तो याद रखो कि तुम्हारी देह । छोटी-सी सही, पर मजबूत खूब है। बाढ़ में पानी कितना भी बढ़े, वह डूबेगी।

अगर तुम बाढ़ मे फँस गए हो तो निराशा को अपनाकर अपने अन्दर ाखिल न करो। बाढ़ तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगी। नाव बहाव के पानी से नहीं डूबा करती; वह तो अन्दर के पानी से ही डूबती है। पनडुब्बी बन-कर जान-बूझकर निराशा का पानी भरकर अगर गोता लगाना चाहो तो हर्ज नहीं। वह तो उलटा आनन्द है, ऐबों से छिपकर ऐबों पर वार करना है।

निराशा से बचता कोई नहीं है। महापुरुषों से तो उसकी आये दिन टक्कर होती रहती है; पर वह इसे समझते हैं खेल की चीज। कोहरे की तरह यह उनको घेर लेती है, पर रोक नही सकती। कोहरे में कुछ दूर का दिखाई देता ही है, बहुत दूर का न सही; कुछ कदम चलने पर उतनी दूर का दिखाई देता ही रहता है, जितना कोहरा होते वह दिखाई देता था। कोहरे की तरह निराशा की पोल खुल जाती है और उनकी चाल मे कोई फ़र्क नहीं आने पाता। सौ दोस्तों मे घिरे रहने पर एक दुश्मन की थोथी

बकवास जैसे ध्यान देने योग्य नहीं होती, वैसे ही सौ आशाओं से घिरे रहने पर एक तरह की निराशा की परवाह न कर खुश रहो, और उससे अपना सम्बन्ध न जोड़ो !

नाउम्मेदी के वक्त दूसरों को दोष लगाने से काम न चलेगा। परिस्थितियों को कोसने से भी कुछ हाथ न आयगा। हाथ आयगा अपनी ठीक-ठीक सम्भाल रखने से। नाउम्मेदी का असली कारण तो तुममे है, औरो मे नही। आफ़तों के घटाटोप मे बडे-बडे घबरा उठते हैं। चोट लगने पर खून न निकले, यह हो ही नही सकता ; पर खून देखकर जीने की उम्मेद छोड बैठना, या उस खून निकलने को कुछ न समझना, अपने बस की बात है। जब यह कहने मे नफा है कि खून निकलने से क्या होता है, अभी बन्द हो जायगा—तब यही क्यों न कहा जाय ? किसी के मर जाने या यकायक गुम हो जाने पर दुःख होता ही है। राम भी सीता के न मिलने पर विकल हो उठे थे। कार्य न बनने पर दिल टूटता ही है। दशरथ कैकयी को समझाने मे असफल होकर दिल तोड़ ही बैठे थे। संसार के लालच और क्रूरता में फँसकर मन भर ही आता है। गर्भवती सीता जंगल में अकेली होने पर रो उठी थीं। अपने ही जब विश्वासघात कर बैठें, तो बड़े-से-बड़े दिल से आह निकल जाती है। मीर जाफ़र के क्लाइव से मिल जाने पर शुजाउद्दौला के कलेजे से आह निकल ही गई थी। बेजा बेइज्जती होने पर दिल ऐंठ ही जाता है। औरंगज़ेब के दरबार में नीची जगह पाने पर शिवाजी का दिल ऐंठ ही तो गया था। ये सब बातें स्वाभाविक हैं। पर याद रहे कि सब बातें निराशा का नाटक न खेल सकेंगी, धक्का खाकर गिरना-भर ठीक है, पड़े रहना ठीक नहीं; उठाने के लिए दूसरो का मुँह ताकना भी ठीक नहीं। हर ज़रा-सी देर मे कुछ-का-कुछ हो सकता है। तकलीफ़ें तुम पर अपना रंग चढ़ाने आयँगी; पर तुम उनको अपने रंग में रंग कर ही नफे में रह सकोगे।

लक्ष्मण को शक्ति लगी, राम का नकली दिल दहला। विभीषण ने राम का असली दिल जगाया। असली राम जगा। हनुमान को संजीवनी

भेजा, और राम युद्ध में लग गया। यही तुमको करना होगा। घटना मनोभाव के जर्जों की बैंच तुम्हारे लिए उस दम फैसला देने नहीं। उस समय फैसला करता है वस आत्मा, जो अनुभव का रस चखे है और जो सचमुच उसे चखकर उसका कुछ उपभोग कर लेता है। ना-उम्मेदी को कहाँ जगह है? निराशा नहीं है, तो हर दुर्घटना तुम्हारे ऊपर चढ़ने का एक जीना है। मीठा दूध तक कड़वी तूँबी मे कड़वा जाता है। कड़वे दूध का तो कहना ही क्या! दुखी हृदय को प्यार भी र-सा जचता है, मार का तो कहना ही क्या? गन्ने का जीवन जीओ। ड़वी खाद को मिठास में बदल दो। नीम का जीवन जीकर दुनिया को दोप दो। यह ठीक है कि जिसका कोई मर जाय, उसे दरो-दीवार रोते दिखाई देते हैं, पर यह और भी ज्यादा सच है कि वह रोकर दरो-दीवार को रुला देता है—और इस ज्यादा सच को उसे समझना चाहिए। यह उसके काम की बात है।

मान लो, रेल से तुम जा रहे हो। उस रेल की दूसरी रेल से टक्कर हो जाती है। तुम और तुम्हारे बीस और साथी मुसाफिर टूट-फूट मे दब जाते हैं, सब पड़े-पड़े कराह रहे हैं, रो रहे हैं। उनसे कुछ करते नहीं बनता। तुम दब गए, यह तो घटना का धर्म है। औरो की तरह तुमको भी निभाना ही होगा, पर आगे आत्मा-धर्म शुरू होता है, और वह है जोर लगा कर निकलना। निकलना और औरों को तसल्ली देना, यह कहकर कि "आता हूँ, अभी आता हूँ।" यह धर्म भी निभाओगे या नहीं? यदि हाँ, तो तुमने उस दुर्घटना से कुछ पाया ही, खोया नहीं। यदि नहीं, तो कराहा करो और चिल्लाया करो। याद रक्खो हिम्मत की हद नहीं होती। जितना चाही जाती है, उतनी आ मौजूद होती है। ज्यादा मुश्किल के मौकों पर ज्यादा हिम्मत आ ही जाती है; पर चोट में उन्हीं के आती है जो हिम्मत के काम करते रहे हैं, जिन्हें उसका स्वाद लग गया है। आफत के समय दो तरह के आदमी आप पैदा हो जाते है: एक ज्ञाता और द्रष्टा; दूसरा साहसी और कर्मयोगी। ज्ञाता-द्रष्टा मील के पत्थर की तरह यह बता देंगे कि गाँव

किधर है और कितनी दूर है। साहसी और कर्मयोगी अपने साथ तुमको ले चलेंगे और गाँव पहुँचा देंगे। ज्ञाता-द्रष्टाओं के पाले पड़े लोग अक्सर दुनिया का, समय का, साथियों का रोना रोया करते हैं। अपने अन्दर कभी नहीं झाँकते। साहसियों के पाले पड़े लोग, गिरते-पड़ते बढ़े चले जाते हैं। तकलीफों को हँसते हँसते पार कर जाते हैं।

निराशा आदमी का अजब हाल कर देती है। वह उन तकलीफ़ों के आगे ही घुटने नहीं टेकती जिनसे वह बिलकुल अपरिचित है और जो उसके ऊपर अचानक आ धमकती हैं; वह तो जाने-पूछे, रोज के, आजमाये बुढ़ापे के सामने भी कायर बनकर नाक रगड़ने लगती है। बुढ़ापा और उदासीनता एक-माने लफ्ज बन गये हैं। आइये, बुढ़ापे का बक्स खोलकर दिखाएँ—

१—ज़िन्दगी के इंजन की भाप निकल गई है। वह काम की पटरी से गिर पड़ा है।

२—वह औज़ार जो काम करता था, अब मोथरा हो गया है। बेकार होने से हिम्मत के बैंटे के बिना पड़ा-पड़ा जंग खा रहा है।

३—साहस का बैल बन्धु-बाधवों की मौत की गठरियों से दबा पड़ा दम तोड़ रहा है।

४—बीमारी देवी की औलाद इतनी बढ़ गई है कि चारपाई नहीं छोड़ने देती।

५—अनुभव की दूरबीन ने दूर-दूर की खाइयाँ पास लाकर रख दी हैं। छोटे-छोटे काँटों को भालों में बदल दिया है। मामूली चोटियों को हिमालय से ऊँचा कर दिया है।

६—कुछ अनगढ़ पत्थर के टुकड़े हैं, जो अपने-आप उछल-उछल कर पाँव से टकराते हैं। जैसे बेटे का कहना न मानना, बहू की बेपरवाही, पोते-पोतियों का ठट्ठा इत्यादि।

ये सारी चीज़ें बूढ़े ने बुढ़ापे के बक्स में आप भरी हैं। तुम किसी उम्र के क्यों न हो, भर कर देख लो, बूढ़े हो जाओगे।

जो बूढ़ा जवानी के खोये जाने की बात न जबान पर लाता है और न बात करना चाहता है, वह बूढ़ा ही नहीं हो पाता, जवान ही बना है। कौन ऐसा बेवकूफ हो सकता है, जो वक्त (Time) में जगह (Space) की तरह पीछे जाना चाहे और इस शर्त पर कि उसके उस के सब अनुभव छीन लिये जायँगे। यानी यह कि वह सोलह बरस का दिया जायगा, पर सोलह बरस जैसा बेवकूफ भी बना दिया जायगा। बड़ी है तो उसके साथ अनुभव भी बढ़े हैं। अनुभव को बुढ़ापा नहीं ाता, वह गुण है। गुण हमेशा जवान रहते हैं। बूढ़े की निगाह में ानी एक जहर है, उतावलापन है, सो इलाज की हाजत रखती है और ाज सिवाय दुःख भरे बरसों के और क्या हो सकता है? यों, बहक और ावलेपन की बीमारी से भरी-हुई जवानी बुढ़ापा कहलाने लगती है। ढ़ापा, यानी पूरी तन्दुरुस्त जवानी। अनुभव-शून्य बूढ़ा तो अनगढ़ जवान भी बच्चा ही जँचेगा। तुम यह ही क्यों सोचते हो कि तुम्हारे हाथ-ाँव दरख्त के पत्ते-डालियों की तरह पीले पडते जा रहे हैं, और यह कि नको जल्दी ही चिता-ईंधन बनना है, और खत्म हो जाना है! यो क्यो हीं सोचते कि बुढापा एक चमकता हुआ हीरा है, जिससे अनुभव की केरणें निकलकर जवानों की आँखो में चकाचौंध डाल रही हैं? तुम दुनिया की जानकारी के भण्डार हो। तुम विज्ञान के खजाने हो। तुम साहित्य की बारीकियों के मन्दिर हो। तुम कला की नस-नस के वाकिफकार हो और सब से बढ़कर हो यह कि तुमने अपने को, अपनी आत्मा को, और यों परमात्मा को, पहचान लिया है। अनुभवी विश्वासवाला बुढापा शान है। शान जवान रहती है।

अब बताओ, बुढ़ापा कहाँ, कब और कैसे उदासी का कारण हो सकता है? बुढ़ापे में ना-उम्मेदी को कहाँ जगह? जिस्म से अपने को क्यो नापते हो? लँगडा तेमूर जब दुनिया को हिला सकता है; एक आँख, एक टाँग और डेढ हाथ वाला राणा साँगा जब लडाई कर सकता है और एक आँख-वाला रणजीत सिपाही से राजा बन सकता है, तो तुम अपनी सूखी देह की

ओर क्यों निगाह डालते हो ? पचपन बरस में सरकारी नौकर, यानी हुकूमत की बग्घी के घोड़े बेकार हो जाया करते हैं, पर देश-भक्त (वतन-परस्त) पचपन मे उम्र शुरू करते हैं। मशीन के पुर्जे बेकार हो जाते हैं, वृक्ष की डालियाँ नहीं। वे डालियाँ गुद्दों मे तब्दील होकर डालियाँ निकालती हैं और जवानी को क़ायम रखती हैं। बुढ़ापे को पतझड़ का मौसम मत कहो; वह दिल की एक हालत का दूसरा नाम है। मौसम पर तुमको इख्तियार नहीं, दिल की हालत पर तुमको इख्तियार मिला है। वह अब भी गा सकता है।

कुछ न सही, औरों को देखकर ही सबक लो। अगर यह भी न कर सको, तो औरों की खातिर ही उदास बनना छोड़ो। मनोभाव छूत की बीमारी की तरह औरों को लगते हैं। तुम्हारी उदासी घर-भर को उदास कर देगी। तुम अपना दिल तोड़कर न जाने कितनों का दिल तोड बैठोगे। तुमको क्या पता कि जिनका दिल तुम अनजाने अपनी उदासी से तोड़ रहे हो, वे कितने उत्साह के साथ दुनिया की कठिन लड़ाई लड़ रहे थे; और तुमको क्या पता कि वे कामयाबी के कितने पास पहुँच चुके थे। तुम लाखों रुपये देकर लोगों का इतना भला नहीं कर सकते, जितना खुश रहकर, ताली बजाकर लोगो की हिम्मत बढ़ाकर कर सकते हो। कम-से-कम मुर्दनी चेहरा बनाये-बनाये तो न फिरो। उदासी आने पर एकान्त कमरे में जाओ और शीशे में अपना चेहरा देखो। तुम्हारा चेहरा तुम्हे रुलाता मालूम होगा। अब नकली हँसी हँसो, वह हँसी भी किसी दर्जे तक तुम्हारे दिल को बदलने मे मदद करेगी। 'खुशी' खुशी पैदा करती है और 'उदासी' उदासी।

क्या तुम अक्सर नहीं देखते कि जिस दिन तुम घर में सुस्त दाखिल होते हो, उस दिन बच्चे तुमसे दूर रहने मे ही अपना भला समझते हैं और तुम्हारी धर्मपत्नी चुप रहना ही अपना कर्तव्य समझती है ? असल में वे तुम्हारी उदासी मे तुमसे दूर ही रहना चाहते हैं। होता यह है कि तुम्हारा मन 'मैं' की कोठरी में घुस बैठता है और इसीलिए तुम्हारी देह

किसी कोठरी मे घुस बैठना चाहती है और यो, तुम सबसे ऊँचे बने ते हो। 'इसका इलाज किया जा रहा है', यह सुनने से काम न गा। मन की सुस्ती देह तक लाने से और फिर कुटुम्ब तक फैलाने से ती ही है, घटती नहीं। वह तो घटती है देह के साफ इन्कार कर देने यानी उसको बाहर न आने देने से। मुट्ठी भींचकर और दाँत किटकिटा गुस्सा बताया जाता है; वही पानी पीकर, हँसकर, गाकर, बदन ढीला डकर उड़ाया जाता है। उदासी का इलाज उसको न अपनाना है। न-से-कम देह को उसके रंग मे रँगना तो हरगिज नहीं चाहिए।

उदासी एक बीमारी है, स्वार्थ उसका परहेज है और परमार्थ उसकी वा। खिला चेहरा इस बात को बताता है कि बीमारी चली गई।

'नहीं हो सकने' की विचारधारा का नाम ही उदासी है। 'क्यों नहीं हो सकेगा? जरूर हो सकेगा'—ऐसी विचारधारा उदासी को एक क्षण में ख़त्म कर देगी। असल में आफतों मे से बहुत-सी ऐसी हुआ करती हैं, जो आती है और जल्दी चली जाती हैं। कुछ, कुछ देर करके जाती हैं; पर ऐसी तो लाखो मे एक होती है, जो आकर नहीं जाती। 'न हो सकने' की विचारधारा सबको उस आखिरी किस्म की आदत में बदल देती है। मामूली उलझन में फँसकर हम हिम्मत तोड देते हैं और अपनी बुद्धि खो बैठते हैं।

'हो सकने' की विचारधारा आफ़त मे फँसने पर भी क्या-क्या कर सकती है, यह जानना होगा! 'बच्चा-सक्का' की जीवन कहानी पढ़ जाओ। यह काबुल के होटल मे पहचाना जाने पर खुद ही उठकर शोर मचाना शुरू कर देता है—"बच्चा-सक्का आ गया!", "बच्चा-सक्का आ गया!" और बडी शाति के साथ सारे बाजार मे शोर करता निकला जाता है—जिसका असर यह होता है कि शाह अमानुल्ला अपनी मोटर मे बैठ काबुल से भाग खडा होता है और बच्चा-सक्का काबुल का बादशाह बन जाता है। "हाय रे! फँस गया, फँस गया, अब क्या हो सकेगा?"—कहने से वह फँस ही गया होता और शायद फाँसी पर चढा दिया गया होता;

पर हँसते रहने से वह आफतों से ही नहीं बचा, वहाँ वह पा गया जिसका वह इच्छुक था।

उदासी की रचना मे मनोभावो का सबसे ज्यादा हाथ रहता है। इसीलिए उसको काबू में लाना आसान नही। मन इच्छा-शक्ति से भी जल्दी काबू में नहीं आता। मन की चंचलता जगत्प्रसिद्ध है, इसलिए मनोभावों का इलाज मनोभावों द्वारा ही किया जा सकता है। तुम किसी हालत मे उसके कुल का, देश का, धर्म का, भाषा का अभिमान जमाकर आशा फूँक सकते हो; बुद्धि को अपील करके नहीं।

असल मे निराशा से इच्छा-शक्ति को कोई ठेस नहीं लगती; कभी-कभी तो वह और भी तीव्र हो जाती है। राह न मिलने पर जानवर तक में मुकाबिले की अपार शक्ति आजाती है और वह जान पर खेल जाता है।

उदासी में उत्साह कम पड़ जाता है। अकेली इच्छा-शक्ति से अब क्या होना-जाना है। अब तो जरूरत पडती है अपनी जाँच की, बुरे को अच्छे मे बदल डालने की, दुःख को सुख बना देने की। "विपत बराबर सुख नहीं जो थोड़े दिन होय!" के टोटे का न्याय समझकर ही उत्साह पैदा होगा। सुख तो गद्दा-बिछा पलंग है। उस पर नींद आयेगी ही। दुःख खटमलों वाली खाट है। वह भले ही पल-भर चैन न लेने दे; पर अधमरा न बनायेगी, जीता-जागता रक्खेगी, कुछ सीख ही देगी, अकल चमक उठेगी, आदमियत जाग जायगी, असलियत का पता चल जायगा, अविद्या का पर्दा उठ जायगा, घमंड का नशा उतर जायगा, जीवन की तराजू में समतल आ जायगा और असली कला का विकास होकर आनन्द पास खिंच आयगा।

दुःख में सुख देख-पाने मे, टोटे मे लाभ निकाल लेने में ही जीवन की जीत है। जरा-जरा सी छेड़-छाड़ में छोटे-मोटे काम छोड़ बैठें, मामूली सुविधा न पाने मे घबरा उठें, इससे लाभ क्या? इससे बचने की सोचना दुनिया में न रहकर स्वर्ग में रहने की सोचना है।

प्लेग ऐसी बीमारी है जिसका इलाज नहीं-जैसा है। जिससे कोई-कोई

ग्ता है, पर क्या उस बीमारी में आस खो देने से कुछ नफ़ा होगा ? दिन की बजाय चार दिन में ही चल बसोगे। वे भी तो आखिर ी हैं जो हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ जाते हैं, खुश-खुश जहर का ा गट कर जाते हैं, उमंग के साथ आग मे कूद पडते हैं। वे मरकर ा भला न करते मालूम हों, पर दुनिया का भला तो कर ही जाते हैं। गले में फाँसी का फन्दा डालकर बचने की आशा निराशा सही, पर र अमर होने की आशा तो पास खड़ी है। उसे क्यों नहीं अपनाते ? त्र का फूल पेड़ से अलग होकर मिट्टी में भी मिल सकता है और भट्टी चढ़कर इत्र भी छोड़ जा सकता है। तुम मिट्टी मे क्यों मिलते हो, नी गन्ध तो छोड़ जाओ। पर यह उदास और निराश होने से न होगा, तो आशा-भरे हृदय से ही होगा और आशा तुम्हारे अन्दर मौजूद है। राशा बुराई है, बुराई कोई अलग चीज़ नहीं होती। भलाई ही—ग़लत गह, गलत समय, ग़लत पात्र के साथ, गलत तरीके के इस्तेमाल से— राई का नाम पाती है।

'हो सकती है, और भलाई हो सकती है,' यही वह आवाज वह खासि- ात है, जो हम में है और जिसके नजदीक होने से निराशा की बीमारी ास नहीं फटक सकती।

महापुरुष भी उदासी और निराशा के बीमार हुए बिना नहीं रहते, पर वे उसको भगाने की कोशिश नहीं करते। उनके जीवन का एक उद्देश्य रहता है और निराशा की ओर से हटकर वे उसी में जुट जाते हैं। उदासी को वस में लाने की यह रीति बडी सुन्दर और काम की है, पर है यह उसी के लिए—जिसने अपनी जिन्दगी का कोई मकसद तैयार कर रखा है, जिसे कोई काम पूरा कर जाना है, जिसे दुनिया को उसी हालत मे नहीं छोड जाना जैसी उसको मिली है। खुलासा यह कि कुछ काम ऐसे हैं जिनको करना ही पडता है—चाहे हम उदास हों, बीमार हों, आफत मे हो, तूफान में फँसे हों या किसी हालत मे हो। माँ को हर हालत मे बच्चे को वक्त पर पैदा करना ही होता है। मुर्दे को हर हालत में उठाकर कब्रिस्तान

या मरघट तक पहुँचाना ही होता है। ठीक इसी तरह जीवन की हर लगन को हर हालत में पूरा करना ही होता है। लगन होती ही इतनी जोरदार है कि वह लगनवाले को उदासी के पास से खींच लेती है और अपने पास बुला लेती है। उदासी का रोता चेहरा जब उसके मालिक के सामने नहीं रहता और न उसकी याद ही दिल के किसी कोने में रह जाती है, तब वह भी सुस्त क्यों रहने लगा ? महापुरुषों की विचारशैली अपनी अनोखी होती है, पर ऐसी नहीं होती जिसकी तुम नक्ल न कर सको। तुम्हारे लिए वह इतनी ही आसान है, जितनी उनके लिए। वे सीधी-सीधी भाषा में यही सोचते हैं, पर सोचते हैं अन्तरात्मा से कि हम एक काम लेकर चले हैं। हमारे सुपुर्द एक कर्त्तव्य है, वह काम या कर्त्तव्य हमारा अण्डा है। अगर सेआ नहीं जायगा, तो सड़ जायगा। वह तो सेने से ही बच्चा देगा। यही कारण है कि वह जीने से कभी नहीं थकते। तुमको जीना कभी-कभी दूभर हो जाता है, इसलिए नहीं कि तुमको समय ने जर्जर कर रखा है या यह कि वह तुमको अच्छे अवसर नहीं देता, बल्कि इसलिए कि तुमने अपनी जिन्दगी का कोई मकसद ही तय नहीं किया।

आदमी-आदमी में फ़र्क न करने वाले और सबकी एक बराबर सेवा करने वाले बड़े आदमी कहलाते हैं। ऐसे बड़े आदमियों की जीवनियाँ हमको ऊपर की सचाई का सबक दे सकती हैं। वे एक काम छाँट लेते हैं और उसी के पीछे पड़ जाते हैं। मुसीबत में पड़कर उदासी का स्वागत करने वालों का उदासी क्या बिगाड़ेगी ? बुद्ध और महावीर धन के लिहाज से राज छोड़कर, धन की आशा को निराश कर चुके थे और फौजों का पहरा छोड़ जंगल में बस, जीवन की आशा को आठ आँसू रुला चुके थे। बदकिस्मती की दो धमकियाँ होती हैं—एक मार डालने की, दूसरी ग़रीब कर देने की। बुद्ध और महावीर न मरने से डरते थे और न ग़रीब होने से, फिर किस्मत उनका क्या बिगाड़ती और क्या करती उदासी ? जीवन का ऐसा मेल बिठा लेना कि जिन्दगी हँसी-खुशी कट जाय, मुश्किल है और यों सराहनीय है, पर है जरूरी। जीवन का असली आनन्द तो उन अनुभवों में है, जो मन-

तक को आनन्द देते हुए सीधा आत्मा पर अपना असर छोड जाते हैं। रा सब धन लुट जाय, पर मैं यह न करूँगा। मेरी जान चली जाय, पर : न करूँगा', कहकर तो मामूली-से-मामूली आदमी यह बता देता है कि ात्मा का आनन्द तो धन और जीवन का दाम लगाकर भी खरीदा जाना ाहिए। सूली पर चढ़ जाने वाले ईसा को, और जहर का प्याला पी ाने वाले सुक़रात को कोई पागल नहीं कहता। न मालूम सिक्खों को ालवार, एक नाचीज लोहे का टुकड़ा, इतना क्यों भाया है कि सीस-बहादुर ुरु को भी तेग़-बहादुर के नाम से पुकारते हैं।

गुरुद्वारे का नाम सीसगंज रखकर बेशक उन्होंने अक्लमन्दी का काम किया है। सिर कटाना पड़े या न पड़े, सिर कटाने की तैयारी तो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए होनी ही चाहिए। ऐसे लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए ही तुम उदासी की गठरी उतार कर फेंक सकोगे।

गुरु गोविन्दसिंह से उनके बच्चे छिन गये और हमेशा के लिए छिन गये। इससे क्या उनके काम मे कोई ढिलाई आई? बिलकुल नहीं। बहादुर शाह के सामने जब उसके बेटे का सिर थाल मे लाया गया, तो क्या उसको कोई घबराहट हुई?—कोई नहीं! बहादुरशाह ने माडले में रहकर भी हिन्दुस्तानियो को कुछ दिया और खुद भी कुछ पाया। उसके सामने जीवन का एक लक्ष्य था। उसने घबराहट को पास नहीं फटकने दिया। पर, मीरजाफर? उसने पाकर भी सब-कुछ खोया, उसका लक्ष्य था उसकी खुशी, न कि अन्दरूनी अनुभव। उदासी, निराशा उसे आमरण घेरे रही। गुरु गोविन्दसिह और बहादुरशाह वे लोग थे, जो कहा करते थे, कुछ भी हो, जो करना है, वह तो करना ही है।

दार्शनिकों का कहना है कि आदमी पहले बहुत हठी, जंगली और कामी था। ये बातें आज भी उसमे हैं, पर दबी हुई है। आज के समाज के रिवाज उसके इन ऐबो को रोके हुए है और यों वह दुखी है। यह बात किसी हद तक सही मानी जा सकती है, पर यह और भी कहीं ज्यादा सत्य है कि आज के भले, समझदार, शिक्षित और सामाजिक प्राणी के निरन्तर

चले आने वाले ऐब आज के समाज के रिवाजो से इतने नहीं रोके जाते, जितने उसके नैतिक गुण, उसकी अन्तर-दृष्टि, उसकी अहिंसा-प्रियता, उसकी सच्चाई की टेक से यह गुण रोके और दबाये जाते हैं। भले आदमी आज की दुनिया से मेल ही नहीं बैठा पाते। युद्ध को उनकी अन्तरात्मा कैसे ठीक मान ले, समाज को बरबाद करने वाली आर्थिक-नीति का वे कैसे साथ दें ? काले-गोरे के भेद का वे कैसे समर्थन करें? तानाशाही उनके गलेसे कैसे उतरे ? यह है आज की दुनिया ! कहो, कैसे मेल बैठे ? ऊपरी सुख उनको चाहिए, इसी सिद्धान्त पर डटना छोड़ अन्दर का सुख भी क्यो खो बैठें ? ऐसी हालत मे निराशा तो आयेगी ही आयेगी और हटकर देगी नहीं। तो क्या कुत्ते की मौत मरे ? नहीं, वे समझौता नहीं करेंगे। अन्दर का आनन्द नहीं खोयेंगे। अन्तरात्मा की खातिर यह सहना ही चाहिए। अगर तुमने बेहयाई को तलाक दे दिया है तो तुम ऊपरी सुख, रंज-खुशी की परवाह न कर सुक़रात की तरह जहर का प्याला खुश-खुश पीना ही पसन्द करोगे।

मामूली-से-मामूली आदमी के लिए भी उदासी का भगाना आसान होगा। शर्त केवल इतनी ही है कि उसके जीवन का कोई उद्देश्य हो। उद्देश्य आवश्यक और सदा रहने वाली चीज है और उदासी कभी-कभी आने वाली।

किसको नमक-तेल-लड़की की दिक्कत रोज-रोज नहीं हुआ करती ? कभी ऐसी दिक्कत मे फँस ही जाओगे। पर उसमें उदास होने की कहाँ जरूरत है ? अगर पैसा भी पास नहीं है, तो भी घबराने वाला पैसा पैदा नहीं कर सकता। तुम अपने उसी काम मे क्यों नहीं लग जाते जिसको तुमने अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा है। लक्ष्य मे लगने से तुम्हारी उदासी फ़ौरन भाग जायगी और उदासी न रहने से तुम्हारी नौन, तेल, लकडी की कमी भी पूरी हो जायगी।

मन-मस्तिष्क, दोनों को स्वस्थ रखने वाला होता है—जीवन का उद्देश्य। आफ़तों और उदासी की ओर उसकी नजर ही नहीं जाती। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति ही मे इस बुरी तरह जुटता है कि आफ़त-मुसीबत

ओर से उसे बेपरवाह होना ही पड़ता है। अब रह गईं मानसिक मारियाँ और मस्तिष्क की गड़बड़ियाँ। वे भी दूर हो सकती हैं, यदि दमी को अपनी रुचि के अनुकूल काम छाँटने और करने को छोड़ दिया ाय। पागल कोई होता तभी है, जब उसको उसके मन के मुआफ़िक़ काम ाँटने और करने नहीं दिया जाता। सब पागल एक-से नहीं होते और सब ागलों में अपनी कोई-न-कोई धुन रहती है। उस धुन को माता-पिता, ाज या परिस्थितियाँ देह से पूरी नहीं होने देतीं। न सही, वह उन्हें मन े पूरी करना चाहता है और उदासी को पास नहीं फटकने देता। उदासी को उसने जरूर जीता और आनन्द को भी पाया, पर उस आनन्द में समाज कोई भाग न बँटा सका।

मन में उत्पन्न हुई उदासी पर काफी लिखा जा चुका है। अब रह गई वह उदासी, जो देह की किसी गड़बड़ी से पैदा होती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई ग्रन्थि अपना पूरा काम नहीं करती और उसकी वजह से उदासी हमको आ घेरती है। इस तरह की उदासी मन की कोरी कोशिश से कोई-कोई ही मिटा सकेगा। सब कोई वैसा करने में सफल नहीं हो सकते, उनको हकीम की पनाह लेने में कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। उसके बताये नुसखे और परहेज से फ़ायदा उठाना चाहिए। पागल की तरह इस क़िस्म के बीमार को ऊपर की पंक्तियाँ बिलकुल उपयोगी न पड़ेंगी, पर अच्छे हो जाने पर वे उसके बड़े काम की साबित होंगी। ये फिर उसको इस प्रकार की बीमारी में हरगिज न फँसने देंगी। ग्रन्थियों के बिगड़ जाने में अस्सी फ़ी-सदी दैहिक कारण हों, पर बीस फ़ी-सदी मानसिक कारण भी रहा करते हैं। जिसमें यह ताक़त है कि वह उदासी को पचा सकता है, उसमें यह ताक़त मौजूद रहती है कि वह उसको पास ही न फटकने दे। ताक़त तो सर्वतोमुखी होती है। बिजली एक ताक़त है, उससे क्या-क्या काम नहीं लिये जा सकते? आत्मिक-बल भी एक बल है, जिससे अनगिनत काम लिये जा सकते हैं। यह तो याद रखना ही चाहिए कि उदासी को उसके ठीक आक्रमण के बाद हटाने में बड़ा जोर लगाना पड़ेगा। काफी

ज़ोर से वह ज़रूर हट जायगी। उसको उस वक्त न छोड़ना ही ठीक है! कुछ देर के बाद वह बहुत ही निर्बल हो जाती है और बड़ी सुगमता से जीती और भगाई जा सकती है। यही वक्त बुद्धिमानों ने उसके भगाने का ठीक समझा है। उदासी पुरानी होने पर ,अपनी जड़ जमा बैठती है और सिर्फ़ जोर लगाने से ही नहीं जाती। बल्कि देर तक जोर लगाना पड़ता है। इतना ज़ोर लायें कहाँ से? जिस ओर जितने ज़ोर की उसको ज़रूरत है, वह तो उसमें है; पर यह कि वह उसमें है, इसका उसे पता नहीं होता। उसके लिए उसे एक गुरु या दोस्त की ज़रूरत होती है, जो समय पर उसको उसकी ताक़त का ज्ञान कराता रहे? वह ताकत क्या है, इसका जिक्र पहले हो चुका है। यहाँ उनको थोड़े में दुहराये देते हैं:—

(१) कोरी हवा की साँस पर जीना जीना नहीं है। महान् विश्वासों की सांस पर जीना जीना है।

(२) दाल-रोटी पर जीना जीना नहीं है। अपनी सूझ से अन्तर्गत चीज़ो को दाल-रोटी में तब्दील कर उन पर जीना जीना है।

(३) खाने के लिए जीना और जीने के लिए जीना, जीना नहीं है। बड़े काम कर जाने के लिए जीना जीना है।

(४) जीओ पर प्रकृति से प्रेम करने के लिए। प्राकृतिक सौंदर्य आँखों में न रमे, तो क्या जीना?

(५) जीओ, पर, किताबों को दोस्त बनाकर जीओ। बुजुर्गों के तजुर्बे के बिना भी क्या जीना?

(६) जीओ, पर खिलाडी का जीवन जीओ। जीतकर जीतने का और हार कर जिताने वालो का आनन्द अनुभव करो।

(७) जीओ; जी-चाहे जैसे जीओ, पर अन्तरात्मा को शर्मिन्दा न होने दो।

(८) जीने का मज़ा ही इस तरह जीने मे है। फिर कहाँ की उदासी और कैसा इलाज!



: १० :

जवानो, अब ?

दुनियादारों का वडा हिस्सा इस चिन्ता मे रहता है कि मरने के वाद क्या होगा ? सन्तों मे केवल बुद्ध भगवान् ऐसे हुए, जिन्होंने यह सोचा कि "अब क्या करना है ?" उन्होंने आगे की चिन्ता मे वक्त नहीं खोया। आज की रोटियों को वास्तव मे कल के लिए केवल इसलिए उठा रखना कि खाना कहाँ से आयेगा, वडी मूर्खता है। मोक्ष यदि है, तो उसी को मिलेगा जो आज की सोचता है। जो बीत चुका है उसके हम वने हुए हैं, उसके वारे मे सोचना व्यर्थ है। 'भावी' हमारी भूत के अनुकूल होकर रहेगी। उसमें हम रद्दोवदल कर सकते हैं, मगर उसकी चिन्ता न कर उसमें वदलाव करने के लिए हमे वर्तमान पर ही ध्यान देना होगा। वर्तमान, और केवल वर्तमान ही हमारा है। उसी के जरिये हम अपने भविष्य को भूत से, अगर चाहें तो न मिलने देंगे; और उसी के जरिये हम अपने भूत, भविष्य को मिलने से रोके हुए हैं। आसमान और जमीन नहीं, यही भूत और भविष्य हमारी उस चक्की के पाट वने हुए है जो हमे पीस रही है, और हमें वह नहीं करने देती जो हम चाहते हैं। हाँ, वर्तमान पर हमारा पूरा अधिकार है। यह वात भूले, और समय की तेज नदी मे वहे। वर्तमान ही इस समय की नदी मे वह टेक है, जो तुम्हे रोके रख सकती है। नदी तिनको के लिए वहे, भूत भविष्य-पर निगाह रखने वालों के लिए वहे, तुम्हारे लिए तो वह स्थिर है—यदि तुम वर्तमान मे

काम करने वाले हो। वह तुमको मजबूर होकर उधर रास्ता देगी, जिधर तुम जाना चाहोगे।

आओ, अब उन तकलीफों को दूर करने की सोचें जो आज, और अभी, हमको सता रही हैं।

वक्त की इस नदी मे फूल भी वहे जा रहे है, और कॉटे भी। चाहिये हमें यही कि हम फूलो को पकड़ें, और कॉटो से दूर रहें। यह भले ही तारीफ की वात हो कि हम कॉटो मे उलझ कर घबरायें नहीं, पर उनमें हम फॅसना नहीं चाहते—यह भी सच है। फिर अगर फॅस ही गये हैं, तो निकलने का जोर तो लगायें, और निकल आने पर फिर उनकी ओर न जाकर फूलों की ओर ही दौड़ें और उन्हीं को पकडने में लगें।

शेर जैसे फाड-खाऊ जानवर से वचना हम सीख गये। हाथी जैसे बड़े जानवर को हमने दवा लिया। जराफ जैसे लम्बे जानवर को ला वॉधा। ह्वेल जैसे भारी-भरकम को समुद्र के किनारे ला पटका। जाड़े जैसी अनोखी वला का इलाज सोच निकाला। गरमी जैसी जलानेवाली ऋतु को ठण्डा कर दिया। ऑधी, वर्षा जैसी अचानक आ दवाने वाली आफतों पर विजय पा ली। विजली जैसी जवरदस्त दानवी से चक्की पिसवा दी। फिर क्या हम वर्तमान के दुखों को दूर नहीं कर सकते? जरूर कर सकते है। वस, अव वहुत हो चुका, ज्यादा सहने की वात छोड दो। इस माया ठगनी की ठगाई मे अव हमको नहीं आना चाहिये। या तो ठगाई ही खत्म होगी, या माया ही।

कोई है उपाय? थके कमजोर कहेगे, "कोई नहीं।" दुःखवादी विना-वुलाये वोल उठेंगे, "दुनिया दुःख की खान है।" धर्मात्मा वतलाएँगे, "पहले जन्म का फल है, भोगना ही पड़ेगा।" वेदान्ती समझाएँगे, "यह सव माया का भ्रम है—सपना है, सपना!"

इनमें से किसी की न सुनो। जिस साढ़े तीन हाथ के आदमी ने पृथ्वी, आग, पानी, हवा, आकाश—सव पर अपना रौव जमा दिया है, वह जीवन को सुखी वनाने की न सोच सके और सोचकर कुछ उपाय न निकाल सके—

आ हो ही नहीं सकता। तुम सफीने न रखते हुए भी तैर सकते हो, ख वाले न होकर भी उड सकते हो, हिरनो जैसी पतली टॉगें न रखते ए भी उनसे दौड़ मे बाजी ले जा सकते हो, शेर-हाथी से कही कम ताक़त खकर भी उन्हे पछाड सकते हो, और अपने ही जैसे भाइयो के साथ हमप्याला और हमनिवाला नहीं हो सकते! मिल-बैठ कर खा-पी नहीं सकते! दो कुत्ते उस लाश के लिए लड मरते हैं जो बीस के लिए काफी होती है। इसके खिलाफ, दस आदमी पॉच रोटी बॉट कर खा लिया करते हैं, जो दो के लिए भी पूरी नहीं हुआ करती। तुम कुत्ते नहीं हो, तुम श्रेष्ठतम प्राणी कहलाते हो। अशरफुलमखलूकात हो।

बैठोगे तो आज की रेल और मोटर में, उडोगे आज के हवाई-जहाज मे, पहनोगे आज के फैशन के कोट-पतलून, और नीति रहेगी तुम्हारी मनु, मूसा और ईसा के जमाने की! और फिर सोचोगे सुखी रहने की! गरमी की ऋतु मे अपने मालिक के साथ अपनी ससुराल मे एक बार गये जुलाहे के दामाद की तरह, जाड़ो में छिडकाव करा और बाहर सो, अकड कर मर जाने के सिवाय हाथ कुछ न आयेगा! शूद्र को वेद सुनते देख, कहीं उसके कान मे गरम सीसा डाल बैठे, तो केवल लाल फाटक ही न देखना पडेगा, गले में रस्सा डालकर झूलना भी पडेगा!

वेष-भूषा बदली, तो रिवाज भी बदल डालो। गुलामी से डरकर नहीं, रिवाजो के मालिक बनकर। किसी की नकल न करना, अक्ल से काम लेना, पर उस बेचारी से काम लेना जरूर!

यहीं नहीं, यानी हिन्दुस्तान मे ही नहीं, सारी दुनिया की राजनीति बूढी, जर्जर होकर दॉत निपोर रही है, और मनुष्य समाज की आवश्यकताऍ? वे बनी बैठी है नवयौवना। उन दोनो का साथ कैसा? बुढिया घर में रहेगी, उसे मार डालने की जरूरत नहीं, पर उसकी खातिर नई बहुऍ हावन-दस्ते मे कुचल-कुचल कर पान नहीं खाऍगी। उनके दॉत है, वे बुढ़िया की नकल करेंगी, तो समाज मे ठट्ठे का पात्र बनेंगी! राजशाही (इम्पीरियलिज़्म) बूढ़ी हो चुकी, नौकरशाही के गाल पिचक गये, सामन्त-

शाही दम तोड़ रही है। ये किताबी महल में रहे, असली महल मे इनका क्या काम ? कहीं-कहीं तो ये मर चुकी हैं। जहाँ ये मर चुकी हैं, तो जिनकी ये बेटियाँ रही हैं—वे भले ही मूढ़ बन्दर की तरह उनके खल्लड़ो को छाती से चिपकाये रहें हैं, तुम उनकी ओर आँख उठा कर न देखो, उनको काम मे लाने की तो बात ही क्या !

रेल में बैठना छोड़ो, हवा में उड़ना छोड़ो, कोट-पतलून छोड़ो, चलो छकड़ा-गाडी में, पहनो मिरजई और बाँधो तहबन्द। यह नहीं, तो बनो हिन्दुस्तानी और पहाड़ पर चढ़कर पुकारो, "पहले हिन्दुस्तानी, पीछे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, पारसी, आर्य-समाजी।"

तुम्हारे बाप-दादा जितने सुखी थे, कहो, तुम उतने सुखी हो ? उनके ज़माने में न रेलगाड़ी थी, न तार। हाँ, हवाई जहाज था, पर पुराण की पोथियों मे ! वे भूखों नहीं मरते थे। उनके समय में दूध की नदियाँ बहती थीं, घी के तालाब थे ! आज भी उनकी बनाई हुई इमारतें देखने अमरीका और इंगलिस्तान वाले हिन्दुस्तान आते हैं। उनके रिवाज उनके थे, उनके कपड़े उनकी सवारियाँ उनकी थीं। वे सुखी थे, तुम नही हो।

क्या तुम्हारे बच्चे तुम्हारे काबू में है ? क्या वे इतने ही सीधे-सादे हैं, जितने तुम अपने बचपन मे थे ? जो तरह-तरह के टैक्स तुम पर लगे हुए हैं, क्या तुम उन्हे खुश-खुश देते हो ? क्या वे कर तुम्हारी समझ मे तुम पर ठीक लगाये गए हैं ?

लोगों का कहना है—हम सभ्य बन गये हैं, हम पहले से ज़्यादा समझदार हो गये है। मेरा कहना है—हम और बर्बर हो गये हैं और होते जाते है। लडना बर्बरता है और धर्म के लिए भी ? जी हाँ, धर्म के लिए भी। बुलबुल लडती है दाने के लिए, पेट भरना धर्म है, फिर उसे बर्बर क्यों कहते हो ? कुत्ता लड़ता है पेट के लिए, भूख मिटाना धर्म है, फिर पुलिस वाले कुत्ते कहे जाने पर क्यों चिड़ते हैं ? लाल लडता है मुनिया की खातिर, मादा के लिए लड-मरना धर्म है, फिर उसे मूर्ख पक्षी क्यों कहते हो ? साँप-बिच्छू लड़ते है जगह की खातिर, जगह के लिए लड़ना धर्म है,

र उनको नीच कीट कह कर क्यो पुकारते हो ? देखा, धर्म के लिए लड़ना । वर्बरता है ! हमारे बड़े दफ्तर, बडी-बडी कचहरियाँ, बडे-बडे महल र्बरता कर ढिंढोरा पीटते रहेंगे, जब तक एक भी आदमी हमारे लाखो-रोडों भीलों, संथालों, जूलूओं, एस्कीमों, बुशमैनो, लाल अमरीकनो, हब-शयो को वर्बर कहने वाला जिन्दा रहेगा।

हमारे मखमल और मलमल के कपडे हमारी वर्बरता न छिपा सकेंगे। वर्बरता तो ईमानदारी, सचाई और प्रेम के साबुन से ही धुल सकेगी।

आज अगर कोई किसी मतलब के लिए अपना सिर काटकर देवी के आगे चढ़ा दे, तो तुम उसे क्या कहोगे ? पागल न ! और अगर तुम अपना जरा-जरा मास रोज काटकर चढ़ाने लगो, तो तुम क्या समझे जाओगे ? महापागल ! पर ऐसा तो तुम रोज कर रहे हो। कैसे ? तुम्हारी बेटी की शादी थी, तुम्हारे पास नहीं थी एक फूटी कौडी। तुमने लिये हजार रुपये कर्ज। किस को खुश करने के लिए ? 'कोई क्या कहेगा' नामवाली देवी को खुश करने के लिए। और अब ? सूद भी अदा नहीं हो रहा। तिल-तिल खून कम होकर काया छीज रही है। यह मास काट-काटकर चढाना नहीं तो क्या है ? कुछ पता है, हिन्दुस्तानियो की औसत उम्र है तीस बरस ! 'कोई क्या कहेगा' की देवी हडप कर गई नब्बे बरस ! नहीं तो थी एक सौ बीस !

अब ?—अब अगर खुश रहना है तो दो सिद्धान्तो को अपनाइये। उन को पूरा समझ लीजिए। फिर उन्हीं की सुनिए और किसी की नहीं। १—जीवन की जान क्या ? २—समाज मे रहने का गुर क्या ?

जीवन की जान है—अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध किसी की न मानो। जो जमीर कहे वही करो। समय न हो, ठहरे रहो ! यही प्रमाण है कि तुम हो। अन्तरात्मा के विरुद्ध किया कि दुखो ने तुम्हे घेरा। तुम अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार कर, शायद एक-दो का और वह भी थोडी देर के लिए, दिल दुखाओगे, पर उसके विरुद्ध कर तो तुम अनेको का बरसों तक दिल दुखाते रहोगे।

समाज में रहने का गुर है—अहङ्कार को कुचल डालो। स्वाभिमान, मान न बन बैठे। विजय अन्तरात्मा का कहना मानने मे है। आत्मा अनन्त शक्तिशाली है, मन नही। मन का कहना माने वह मानी, आत्मा का कहना माने वह आत्माभिमानी—यानी ज्ञानी।

जो मन का दास है, वह मनुष्य का दास है, मनुष्यों का दास है। जो आत्मदास है, वह परमात्मा का दास है, यानी आज़ाद है। आत्मा का दास होना रूढ़ियो का दास होना नहीं है। आत्मा का दास होना अपने को पाना है। यह विज्ञान है। सुखी होने के लिए हमें यही जानना होगा कि हम क्या हैं? अपने मे कैसे रह सकते हैं? आत्मा तक पहुँचने के लिए नग्न सत्य ही सहायक हो सकता है, रोजमर्रा का मोटा सत्य नहीं।

आइये, सिद्धान्त को छोड़कर व्यवहार में प्रवेश करें। मान लो, तुम्हें विवाह करना है। पुराना तरीका यह है कि माँ-बाप जो तुम्हारे गले बाँध दें, उसे उम्र भर निभाओ। मान लो, तुम्हें रोजगार करना है। उसका सीधा रास्ता यह कि जो तुम्हारे बाप-दादा करते आये हैं, तुम भी वही करो। अगर ये तरीके तुम्हें पसन्द हैं, तो तुम 'लोग क्या कहेंगे' नामवाली देवी के दास हो, मन के दास हो। इस पसन्द मे तुम्हारी अन्तरात्मा कहाँ है? तुम कहाँ हो?

'जीवन की जान' वाला सिद्धान्त खत्म! अब, आजीवन जीवन का भला कहाँ?

यदि आत्मा है, तो आत्मा है—और मैं भी हूँ। यह अहङ्कार नहीं है, सत्य है। यही जीवन की जान है।

मैं हूँ, मेरी जाति है, मेरा राष्ट्र है, मेरा मानव-समाज है। मैं हर हैसियत से वही करूँगा, जो मेरा आत्मा कहता है।

कहिये, आप रूढ़ियो के दास रहकर जीना चाहते हैं या आत्माभिमानी रहकर?



: ११ :

उदासी को यों भगाओ

देह की तरह मन भी बीमार पडता है। देह की बीमारियों का असर देह पर साफ़ दिखाई देता है। मन की बीमारी का असर भी देह पर ही पडता है। भूल से हम मन की बीमारी को बीमारी समझ बैठते हैं। दवा-दारू करने लगते हैं और मर्ज़ को ठीक करने की जगह और बढ़ा लेते हैं। उदासी मन की बीमारी है। यह दवाओं से नहीं जाती। मन के डाक्टर मन को मन से अच्छा करते हैं। वे सुझाव देते हैं। सुझाव मन की अकसीर दवा है। उदासी मन की बीमारी तो है, पर दमे की तरह बीमारी मान ली गई है। दमा-जैसे बीमारी नहीं, किसी बीमारी का चिह्न है; उसी प्रकार उदासी बीमारी नहीं, किसी बीमारी की निशानी है। जिस बीमारी का यह चिह्न है, उसी की दवा करने से उदासी भाग जायगी।

उदासी है बहुत बुरी चीज। यह बनाऊ नहीं, ढाऊ है। उदास दिवालिया बन बैठता है। जीवन के कर्ज चुकाने से इन्कार कर देता है। जो वह खाता है, उसका कुछ बदला जमीन को तो देता है और वह शायद मजदूरी देता है; पर और किसी को कुछ नहीं देता। न दे, न सही; पर बुरी बात तो यह है कि वह अपनी बीमारी फैलाकर ढाने के काम में लग जाता है। इस ढाने के काम में नीति-शास्त्र उसका मददगार बन बैठता है। नीति-शास्त्र जब तक भावों के ढाने को जायज बनाता रहेगा, तब तक उदास उदासी को अपनाते रहेंगे और सोसाइटी के निज़ाम के महल को

टाते रहेंगे। उसके व्यवस्थापक किले के फाटक पर डटे रहेंगे और मौक़ा पा खिडकी की राह घुस कुछ-न-कुछ गडबड करते रहेंगे।

नीति-शास्त्र का जन्म हुआ था जंगली स्वच्छन्दता को सिखा-समझा-कर शहरी स्वाधीनता बना देने के लिए। पर वह लग गया शहरी स्वाधीनता के भी हाथ-पाँव बाँधने। स्वाधीनता इस बन्धन को बरदाश्त न कर सकी और उसने जन दी उदासीनता। उदासीनता का बाप बना पाप, गुनाह। पाप भूल या भूलें छिपाने का एक नाम है। बालक भूलें छिपाना नहीं जानता, इसलिए उदास नहीं होता। यों उदासी मन की बीमारी न होकर मन की बीमारी भूल-दाब (यानी भूलों, ग़लतियों को छिपाकर बैठ जाना) का चिह्न है।

कुदरती कानूनो के खिलाफ़ कुछ करना ग़लती कहलाता है। ग़लती का दूसरा नाम है भूल। भूल छिपाना पाप है। रिवाज ने मन को पाप से नफरत करना सिखा दिया है। मन का भूल करना विभाव है। यही बात यों भी कही जा सकती है कि मन का कुदरत के कानूनों के अनुसार काम करना स्वभाव है और नीति-शास्त्र क़ुदरत के कानूनों के खिलाफ़ रोक लगाता है। अब मन जो भी काम करता है, वह या तो क़ुदरत के क़ानूनो के खिलाफ़ पडता है या नीति-शास्त्र के। इसलिए मन ढीट बन-कर नीति-शास्त्र को ही ठुकरा देता है और कुदरत के कानूनों पर चलने लगता है। समाज का बहुत बडा हिस्सा, देखने मे, नीति-शास्त्र पर चलता मालूम होता है, इसलिए गलती करने वाले को मन की ग़लतियाँ छिपाकर उदास बनना पड़ता है।

आइए, इसे अच्छी तरह समझ लें। 'भूख लगने पर उन चीज़ों को खाना जो हमारे जिस्म की बनावट के लिहाज से जरूरी हैं' कुदरत का क़ानून है। नीति-शास्त्र कहता है, भूखे मर जाओ, चोरी न करो। बिना दी हुई चीज लेना चोरी करना है। अब एक आदमी भूख से मर रहा है। माँगने पर उसे कुछ मिलता नहीं। तब उसके पास एक ही उपाय है। नीति-शास्त्र को ठोकर मारे और कुदरत के क़ानून को अपनाये। वैसा वह

रता भी है, पर नीति-शास्त्र को ठुकराना समाज बरदाश्त नहीं करता। सलिए वह ठुकराता भी है और ठुकराने को छिपाता भी है। नतीजा होता है—उदासी। उदासी पुत्री है उस स्वाधीनता की जिसने तंग आकर पाप के साथ शादी कर ली थी। इसी उदासी को अपनाकर उदास पक्का विनाशक बन जाता है।

उदासी उदास को दुखी, भारी और हठी बना देती है। उदास समाज के काम का नहीं रह जाता। साथ मिलकर काम करना उसको बुरा लगता है। अब यह पाप नहीं तो और क्या है? खुदी उससे दूर नहीं हुई। अहंकार ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। तसल्ली उसकी वह कर नहीं पाता। तसल्ली के सारे रास्ते उसने बन्द कर लिए हैं। तब या तो वह अपघात करे या वेश्या बनकर पाप की जिन्दगी बिताये। दोनों ही काम सोसाइटी की नजर में ऊँचे नहीं, नीचे हैं। सोसाइटी के जहाज की पेंदी मे सूराख़ करने वाले हैं।

जवानो! उदासी की जड तुमने जान ली। उसको काट फेंकना बडा काम नहीं है। मामूली हिम्मत से वह काम हो सकता है। अपनी भूलों को खुले दिल से स्वीकार कर लेने से उदासी की जड कट सकती है। एक बार हिम्मत करो तो सभी बदल जायगा। चमत्कार हो जायगा।

भूलों मे दबे-दबे अनाज की तरह किल्ले फूट निकलते हैं। यानी भूलो को छिपाने से खूब भूलें होती है—मन की कुढन बढ़ती जाती है, जिन्दगी आफत हो जाती है। मरते तो सब हैं, पर उदास कुत्ते की मौत मरता है।

सफलता मे विश्वास न रह जाने का नाम है—उदासी। उदास को असफलता का हमेशा डर बना रहता है। नाकामयाबी का डर नाकामयाबी को बुलाता है। उदास, उदासी को मानता दुःख ही है। दुःख को दुःख मानने मे तुम इतने टोटे में न रहोगे, जितने यह मानने मे कि दुःख तुमको पाप या भूल की सजा की शक्ल मे मिला है। ऐसा मानने से तुम हिम्मत से हाथ धो बैठोगे। ताक्त तुमको जवाब दे जायगी।

मनुष्य भूलों का पुतला है। कहते हैं, देवता भूल नहीं करते। फ़रिश्तो

से गलतियाँ नहीं होतीं। नहीं होती होगी। हमने फरिश्ते-देवता नहीं देखे। तुम अपने को अगर आदमी मानते हो, तो तुमसे भूलें होगी। भूलो के जब हम बने हुए ही हैं, तब भूल करने से शरमाएँगे क्यो ? यह याद रखो कि अगर तुमने भूल को शर्म का काम समझा, तो तुम भूल-सुधार के काम मे कभी कामयाब न होगे। हाँ, जो अपने को देवता मान बैठे हैं, वे भूल करने को शर्म का काम समझें तो समझते रहे।

जवानो ! तुम अपने-आपको देवता मान बैठने की भूल न करना। तुमने अपने को देवता माना और भूलें होना बन्द हुईं। भूलों के तो तुम बने ही हो, वे तो बन्द होंगी नहीं, होगा यह कि या तो तुम खुद ही अपनी भूलो को ठीक समझने लगोगे, या तुम्हारे साथी तुम्हारी भूलों को ईश्वर की सचाई का नाम दे डालेंगे। तुम्हारी भूल से चबाई कंकरी का नतीजा यह होगा कि तुम्हारे साथी ईंट चबाने लगेंगे और अगर उन्हें किसी तरह यह जँचने ही लगा कि ईंटें नुकसान करती है, तो तुम्हारे जन्म के दिन तो खाये बिना फिर भी न मानेंगे।

हम भूल करने वालों के हाथ पड़ गए हैं। भूल से बिलकुल खाली भगवान्, खुदा के वेद, कुरान। भगवान्, खुदा ये देकर कहाँ चले गये, पता नहीं; पर जिम्मेदारी पड़ी हम भूलों से भरे आदमियों के सिर कि हम यह साबित करे कि उनमें कोई भूल नहीं है। हम भूलें करने मे भूलें करते हैं और सिर फोड़ते हैं।

जवानो ! अपने-आपको देवता न मान, आदमी मान, भूलें कर, भूलों को स्वीकार कर, हलके बने, आगे बढ़ते चलो। भूल न करने का काम खुदा के मुँह-चढ़ों के लिए छोड़ दो, देवताओं के लिए छोड़ दो। बड़प्पन भूलें न करने में नहीं है, भूलें कर उन्हें स्वीकार करने में है, उन पर अधिकार करने में है। भूलें मन में पड़ी-पड़ी नरक तैयार कर लेती हैं। नरक मे तेल के खौलते कढ़ाह में आदमियों को जलाने की बात कल्पना की गढ़ी हो सकती है, पर उदासी के गरम कढ़ाह में तो तुम रोज तले जाते हो। उदासी से बचने का जब सहज उपाय तुम्हारे सामने रख दिया गया तब

अपने-आपको तले जाने की तकलीफ से बचा सकते हो। भूलें मन में रती रहती हैं, काँटे की तरह चुभती रहती हैं। काँटा निकल जाने पर मन की पीडा जाती रहती है। ठीक इसी तरह भूलों को कह डालने पर चुभना बन्द कर देती हैं। वे वहाँ रह ही नहीं जातीं। कह डालने पर लें, भूलें नहीं रहतीं। वे मन से हट जाती हैं और चुभन नहीं रह जाती। तना ही नहीं, वे अपनी जगह एक मीठा अनुभव छोड जाती हैं, जो मेशा याद आता है। भूलों को भूल मानना तरक्की का जीना चढ़ना है। दासी से ऊँचे उठते जाना है, दूर होते जाना है।

लोग तुम्हारी भूलें तुमसे सुनकर तुम्हारी इज्जत करने लगेंगे। भूलें मेशा छिपी तो रहेंगी नहीं। एक-न-एक दिन किसी-न-किसी तरह वे औरो तक पहुँचेंगी ही। तुम्हारी भूलें लोग और किसी तरह जानकर तुमको ीचे समझने लगेंगे और यों तुम्हारी उदासी तुमको और भी कुतरने नगेगी। उदासी मिटाने और रूँगे मे इज्जत पाने का मौका हाथ से क्यों खोते हो?

भूलें तुम पर अपना वार करेंगी, तुमको दुखी बनाएँगी। तुम ही पहल क्यों नहीं करते? काम के वक्त बात करने की चूक करना नादानी है। दुनिया का भेद काम है। मन्त्रों का मन्त्र काम है। भाग्य के उठाये उठना भी कोई उठना है? किस्मत के झुकाये झुक जाना भी कोई आदमियत है? दुनिया की मुठभेड की रस्सी पर समतोल रखकर ही चल सकोगे।

भूलों के बीज के लिए सबसे उपजाऊ धरती है त्याग की। तुम अपने को त्यागी बनाकर जब सेवा शुरू करते हो तब तुमसे, तुम्हारे देवता न होने के कारण, भूलें होती हैं और तुम अपनी इस कमी से शर्म के मारे जमीन मे गड जाते हो। नतीजा यह होता है कि बिस्तर पर लेटे नहीं कि चिन्ताओं के चक्र ने तुम्हें घेरा। तुम उस चक्र में ऐसे फँसते हो कि किसी एक बात को भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। भूलें तुम्हें सबक दे सकती हैं, पर लेने के लिए तुम्हारे पास वक्त ही नहीं रह जाता। तुम अपने को नीच और तुच्छ समझने लगते हो। यह तुच्छता की जूँ तुमको काटकर अपना-जैसा

बना लेती है। तुम भी फिर जूँ बनकर रूढ़ि की गुदड़ी में सुरसुरा-सुरसुरा कर समाज के जिस्म में काटकर खुजली उठाते रहते हो। यह तुच्छता तुम औरो में भी फैलाना शुरू कर देते हो। अगर यह तुच्छता कोशिश कर दूर न की जाय तो मरने तक साथ देती है। अपने किसी काम से या बात से किसी के दिल मे यह खयाल बिठा देना कि वह अपने को पापी, गुनहगार समझने लगे, सबसे बडा पाप है। इस बात का बड़ा ध्यान रखना और ऐसी भूल न कर बैठना। अगर हो भी जाय तो फ़ौरन दूर करने की कोशिश करना और उसको ठीक किए बिना चैन न लेना। वह भूल भूलों में सबसे बड़ी भूल है। नशा करना इतना बुरा नहीं जितना नशेबाज तैयार करने का काम शुरू कर देना। भूल करना बुरा है, पर भूल करने वाले तैयार करने का कारखाना खोल देना तो और भी बुरा है।

भूले रोज होती हैं। कुछ भूलें इतनी मामूली बन गई हैं कि उनके बारे मे भूल होने का ज्ञान भी हममें से बहुतों को नहीं रह गया। भूलें है भी बहुत किस्मो की। फिर भी बारह क़िस्मों मे वे बाँटी जा सकती हैं। सुभीते के लिए हम वैसा किये देते हैं—

१. गुस्से की, २. घमण्ड की, ३. लालच की, ४. फरेब की, ५. हँसी की, ६. रुचि की, ७. अरुचि की, ८. रंज की, ९. डर की, १०. घृणा की, ११. मरदानी, १२. जनानी।

जोर-जोर से इसलिए बोलना कि लोग आपकी बात को ठीक मान लें; अपनी कहे जाना, औरों की न सुनना; सस्ती चीजें खरीदना और पछताना; बात करते-करते रुक जाना; आदत हो जाने से बे-जगह हँस-बैठना; अपनी पसन्द पर जोर दे बैठना; अपनी ना-पसन्द को बहुत खींचना; शोक मे कोई प्रतिज्ञा कर बैठना; डर से बीमार पड जाना; नफ़रत से बेताब हो बैठना; औरतों से घृणा; मरदों को चिढाना इत्यादि।

जरा ध्यान देने पर हर आदमी एक लम्बी-चौडी फ़ेहरिस्त अपने लिए तैयार कर सकता है। पर फ़ेहरिस्त बनने से काम न होगा। काम तो उन पर विचार करने से और फिर उनका सुधार करने से होगा। उदासी-बीमारी

र होगी। सुधार की राह मे एक पहाड आएगा। उसे लाँघ जाने पर ापका रास्ता साफ और सीधा हो जायगा। वह पहाड है हमारी यह ादत कि हम भूलकर अहंकारवश उस पर डट जाते हैं और कह बैठते हैं क हमने जो किया, ठीक किया। अहंकार का सबसे पहला काम होता ही यह है कि वह अपनी भूल दूसरों के सिर थोपे। आम-तौर से अहंकार उसके जगाये ही जागता है। ठसक को ठेस लगी और वह जागा। इस चुटीले साँप को जरा दबाइये और फिर देखिए कि सारा सीन बदल जाता है। दुश्मन दोस्त बन जाते हैं। जो आपसे बचकर भागते थे, वे खिंचकर पास आ जाते हैं। जो बदनाम करते थे, वे गुणगान करने लग जाते हैं।

मान का भूत उतरा और भूल की वजह समझ में आई। वजह समझ मे आई और ठीक क्या था, इसका भेद खुला। ठीक मन को घटनाएँ ठीक-ठीक ही बताती हैं। गुस्से की ग़ैरहाजिरी में डर को डरा-धमकाकर मन से निकाल बाहर कीजिए और फिर देखिए भूलें भूलकर भी वहाँ कदम नहीं रखतीं और उदासी उदास होकर कब उठेगी और उठकर चल देगी।

उदासी को मत कोसो। उससे मत खीजो। कोसना, खीजना उसके दाना-पानी है। चोट खाया हुआ अभिमान उसका पलंग है। उसे खींच लो। वह चल देगी।



: १२ :

काम की काहिली

जैनों के एक फ़िरके के लोग अपने भगवान् की मूर्ति मन्दिर में नंगी रखते हैं, पर वह भी इतनी नंगी नहीं होती जितने सनातनी नागे साधू। मूर्ति नग्न तो है ही, पर हाथ-पर-हाथ धरे हुए भी है। हाथ-पर-हाथ धरकर बैठना एक मुहावरा है। उसका मतलब होता है निठल्ला बैठना, काहिल-वजूद बनना। बुद्ध भगवान् की भी कुछ मूर्तियाँ हाथ-पर-हाथ धरे मिलती हैं; पर महावीर और बुद्ध-जैसी, अपने जीते जी, भारत की काया पलट करने वाली हस्तियाँ इतिहास में कम ही मिलती हैं, इसलिए इनकी काहिली यों ही उड़ा देने वाली चीज नहीं हो सकती। इसका मुताला करना होगा। समझना होगा। महावीर, बुद्ध भरी जवानी में सेवा के मैदान में कूदे थे, इस नाते भी जवानों को उनकी एक-एक बात अच्छी तरह समझनी चाहिए। ये दोनो राजकुमार थे। काहिली की कुरसी, राजगद्दी, इनको काट खाने को दौड़ती मालूम होती थी। ये उसे छोड़कर भागे और खूब भागे। काहिल कहीं भागने-जैसा भी काम किया करता है? आलसियों की कहानियाँ किसने नहीं पढ़ी-सुनीं? वे अपने जलते कपड़ों को बुझाने के लिए भी दूसरों को पुकारा करते हैं। यह बात अलंकार की बोली मे नहीं, हिसाब की बोली में कही जा रही है। आलसी सचमुच ऐसे ही होते हैं। ये राजकुमार भागे जरूर, पर पीठ दिखाकर नहीं, छाती खोलकर रूढ़ि दुश्मन की ओर, उससे लोहा लेने के लिए, गरमियों में शिमला-शैल

। ओर नहीं, अफरीका के सहारा की तरफ; जाड़ों मे भूमध्य रेखा की ओर
हीं, ध्रुव देश की तरफ; मूसलाधार में महल की तरफ नहीं, खुले जंगल
और मैदान की तरफ। वे एअर-कण्डीशण्ड (ठंडी) गाड़ी से न भागकर टॉगो
की सवारी को ही ठीक समझते थे। उनकी दो टॉगे उनको हर जगह ले जा
सकती थीं, इसीलिए उनको वे पसन्द थीं। वे हाथ-पर-हाथ धर सकते हैं,
पर आलसी या काहिल-वजूद नहीं बन सकते। उनकी गोदी मे उनका दायाँ
और बायाँ हाथ न मिलता था, किन्तु बिजली का गरम तार नरम तार से
मिलता था और ज्ञान की चिनगारी पैदा कर अज्ञान अँधेरे को खा
जाता था। अलंकार की बोली हो ली। आइए, अब मतलब की बात
सुनिये।

आज का युग मशीन-युग है। मशीन की जान है पहिया। अगर
बिजली-युग है तो उसका भी बाप पहिया ही है। पहिये ने कब जन्म
लिया, किसी को पता नहीं। यों मशीन-युग बहुत पुराना है। हनुमानजी
ने समुद्र तैरकर पार किया था, पर आज तो काशी की गंगा मोटर-बोट से
पार की जाती है। नहीं-नहीं, नागपुर के शुक्रवारी तालाब मे भी मोटर
बोट रहती हैं। मतलब यह कि हम हाथ से काम नहीं लेते, औज़ारों से
काम लेते हैं। साइकिल से जितने तेज चल सकते हैं, उतने पैर से नहीं।
रेल, तार, हवाई जहाज बनाने वालों की कहानियाँ या जिन्दगियाँ उतने
ही शौक से पढ़ी-सुनी जाती हैं, जितनी राम-लक्ष्मण या भीम अर्जुन की
कथाएँ। रेल के इंजन को सोच निकालने वाला लडका अक्सर अपनी
माँ से फटकार खाया करता था। उसकी माँ कहा करती थी, "क्या हाथ-
पर-हाथ धरे बैठा है? पकती हाँडी देख रहा है, कुछ करता क्यों नहीं?"
यह सुनकर वह चौंक पडा करता था और उसका काम रुक जाता था। वह
सुस्त नहीं तो बेकार ज़रूर हो जाता था। हम आजकल हाथ को आराम
देने के लिए हाथ के औज़ार बनाने की नहीं सोचते। कभी सोचते रहे
हों, यह दूसरी बात है। आजकल तो हम औज़ार इसलिए गढ़ते हैं कि
इसी हाथ से ज़्यादा काम कर सकें। नये-नये औज़ार सोच निकालना

मुश्किल काम है, इसीलिए तारीफ़ के काबिल है। दिमाग़ के लिए औजार सोच निकालना कहीं ज़्यादा मुश्किल काम है और कितना तारीफ़ का काम है, उसका अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता। दिमाग़ी औज़ार तैयार करने वाले मूसा, ईसा, मुहम्मद, कार्ल मार्क्स, नित्शे वग़ैरह हुए। हिन्दुस्तान तो इस तरह के औज़ार निकालने वालों का केन्द्र ही रहा है। महावीर, बुद्ध, शंकर, राममोहन राय, दयानन्द, ये सब बैठे-बैठे दिमाग़ी औज़ार ही गढ़ा करते थे। दिमाग़ी औज़ार गढ़ने वाला देखने में काहिल-सा जँचता है, पर वैसी काहिली तो क़िस्मत से ही किसी को नसीब होती है। हाँ, वह सीखी जा सकती है और हर जवान को सीखनी चाहिए।

बेशक, यह ज़रा साफ़-साफ़ समझना होगा कि दिमाग़ी औज़ार क्या हैं? कैसे गढ़े जाते हैं? और उन्हें कौन गढ़ सकता है?

दिमाग़ी मशीन का नाम है—संगठन, तनज़ीम (Organization)। इसके पुर्ज़े हैं वे लोग, जिनके सिर कुछ जिम्मेदारियाँ हैं।

इन औज़ारों या पुरज़ों के गढ़ने में खुदग़रज़ी छोड़नी पड़ती है, साथियों का एतबार करना पड़ता है और अपना एतबार जमाना होता है। हुकूमत भी की जाती है, पर हुकूमत का घमंड सर से निकाल कर। आलिमों, ज्ञानियों की पहचान सीखनी होती है, उनको सिर-आँखों पर बिठाना होता है। उल्लू पर सवार रहने वाली लक्ष्मी को काबू में रखना होता है। याद रहे, सिंहवाहिनी शक्ति को उलूकवाहिनी का पहरा देने में खास मज़ा आता है, इसलिए उसको तो इस काम में जुटाये ही रखना होगा, नहीं तो वह ऊधम मचाकर तुम्हें चैन नहीं लेने देगी।

इन औज़ारों को गढ़ वही सकता है जो काम की काहिली का माहिर है। निकम्मी काहिली बुद्धि की तलवार को जंग लगाती है और काम की काहिली उस पर शान चढ़ाती है। काम की काहिली से हमारा मतलब है अपने साथियों या मातहतों के काम में कम-से-कम दखल देना। कोई नई मशीन पुरानी मशीन की जगह तभी लेती है जब वह कम-से-कम आदमी का दखल चाहे, ज्यादा-से-ज्यादा काम करे, अच्छा काम करे, आसानी से

गढ़ में आ सके। कम-से-कम दखल देने से हमारा मतलब यही है कि जहाँ-जहाँ हमको बोलना पड़ता था वहाँ वह मशीन बोलने लगे। महावीर यह चाहते थे कि अपने शागिर्दों के चाल-चलन की निगरानी मुझे न करनी पड़े और मैं इस झल्लत से बच जाऊँ। साथ ही वह यह भी चाहते थे कि उनका चाल-चलन उनकी निगरानी के बिना भी खूब अच्छा रहे। इसके लिए उन्होंने सोच निकाला यह तरीका कि हरेक आत्मा मेहनत से परमात्मा हो सकता है और वह मेहनत है चाल-चलन को ठीक रखना। जेलखाने में जेलर को चैन के कुछ साँस लेने के लिए गढ़े गए—कैदी, पहरेदार और वार्डर। स्कूल में मास्टर को सुख से एक गिलास पानी पीने को वक्त मिल जाय उसके लिए बनाये गए—मानीटर। यह सब दिमाग़ी औज़ार हैं और काम की काहिली की उपज है। हमारी हिन्दुस्तानी कांग्रेस सन् १९२० तक अंग्रेजी सरकार के बायलर की उस नली का काम करती रही, जो ज्यादा भाप देने पर उसको बाहर निकाल देती है और उसको फटने से बचाए रखती है। यह सरकार को आराम की साँस लेने के लिए ह्यूम की गढ़ी हुई मशीन थी। सन् १९२० के बाद से नाम कांग्रेस ही रहा। है असल में वह हिन्दुस्तानी पंचायत।

जीवन की गुत्थियों को सुलझाने की खूबी ही इस बात में है कि तुम एक के स्वार्थ का सबके साथ ठीक-ठीक मेल बिठा दो। आदमी जमात का एक हिस्सा है सही, पर उससे बड़ा होना चाहता है। हिस्सा कुल से बड़े होने की सोचे, यह अनोखी सिफ्त इस राजनैतिक दुपाये में ही पाई जाती है। इस गुण का खयाल रखते हुए ही तुमको चलना होगा। दो काहिलियों को टकराने से बचाना होगा। जीवन की दुखी पर फतह पानी होगी।

हमारी हर कोशिश की मंशा यही होती है कि कोई आसान तरीका काम करने का मिल जाय! कीचड़ में भी पड़े पत्थर को उठाने में भीमसेन की कमर में भी झटका आ सकता है; पर उसी को क्रेन की मदद से पतला-दुबला आदमी बिना दिक्कत उठा लेता है। प्रकृति पर विजय तुम मन्त्रों

और यन्त्रों से ही पाते रहे हो। बाहर की और चीजों की दुनिया में उससे फ़ायदा उठाना रोजमर्रा का काम बन गया है, पर जैसे ही अन्दरूनी उलझनें सामने आ जाती हैं या चिन्ताएँ आ घेरती हैं, तुम उससे काम लेना भूल जाते हो। तुम तदबीरे सोचना छोड़ बैठते हो। इतना ही नहीं शोर मचाने लगते हो कि फिक्रों के दूर करने का कोई इलाज नहीं, लोग कहते ही रहे, हवाई सवारी नहीं बन सकती और बन गई। इसलिए हम मानने को तैयार नहीं हैं कि मन और मस्तक की तकलीफ़ों के दूर करने का कोई उपाय ही नहीं है।

भीख मॉंगने से भीख मिल जाती है, भूख भी मिट जाती है। उधार मिल जाने से फ़ौरन की तकलीफ़ दूर हो जाती है, पर भीख और उधारी हमारे पैसा कमाने की काबलियत को हमेशा के लिए मटियामेट कर देती हैं। भीख और उधार के ग़लीज पानी से पैसा कमाने की मशीन को क्यों जंग लगवा रहे हो! दुविधा का रोड़ा हटाकर उस मशीन को चलता क्यों नहीं कर देते? भीख, उधार, इनाम, वजीफ़े तुम्हारे जानों को शिकंजे में कस रहे हैं। तुम मे दम रहने ही नहीं देते। बात-बात में तुमको समझौता करना पड़ता है। ईसाई स्कूल मे तुमको अपने मन के खिलाफ़ ईसा के गीत गाने पड़ते हैं, आर्य समाज स्कूल में ओ३म् का बिल्ला लगाना पडता है, जैन स्कूल मे 'जय जिनदेवा' का शोर मचाना पड़ता है और इस्लामी-स्कूल मे बिस्मिल्ला ही से बिस्मिल्ला करनी पड़ती है। तुम बिना समझौते ईसा के गीत गाओ, ओ३म् का बिल्ला लगाओ, 'जय जिनदेवा' गाओ, 'लाइलाहिल्लिलल्लाह' पुकारो, तुम्हारे दिल बढ़ेगे, तुम मे दम आयेगा। सन् २१ में इन्हीं नारों से हिन्दुस्तान जाग उठा था।

वह जवान जो खाने, पीने, पहनने ही नहीं, उठने-बैठने तक के लिए दूसरों की ओर ताकता है, वह युवती जिसने स्वाधीनता को अपना दुश्मन समझ रखा है, जब अपनी जिन्दगी को अपने हाथ मे लेंगे तो वे बहुत जल्द देखेंगे कि उनकी अक्लें काम कर रही हैं और वे दुनिया में अपनी जगह बना रहे हैं। हमारी जिन्दगी का यह भी एक काम है और जरूरी काम है

के अपने रास्ते में आई हुई रुकावटों को हटाते चलें। हम बदले तो दुनिया बदल जायगी। किस्मत हमको नहीं बनाती, हम किस्मत को बनाते हैं। आज़ादी के दामों मोल ली वरदी जब कुछ की निगाह में तुम को उठा देती है और झूठी-सच्ची तडक-भड़क भी पैदा कर देती है तब आज़ादी से पहनी वरदी क्या न कर दिखाएगी! तुम्हें अपने अन्दर की ताकत के खजाने का पता चल जाएगा और काम की काहिली की देवी हाथ-बाँध तुम्हारे सामने खडी रहा करेगी।

कर्मयोग का मतलब काम में लग जाना भर नहीं है, काम करने का कमाल हासिल करना है। काम में कमाल का मतलब ही यही है कि काम के काहिल के हाज़िर रहने से ही काम चल पड़े और ठीक-ठीक होने लगे। कृष्ण ऐसे ही काहिल थे। काम की काहिली के माहिर थे। व्यासजी ने ज़बर्दस्ती उनसे एक बार सुदर्शन उठवा दिया, पर हज़रत मुहम्मद ने कभी अपनी कमान पर तीर चढ़ाकर न दिया! नैपोलियन की हाज़िरी के करिश्मे किसने अंग्रेज़ी किताबों में नहीं पढ़े? ऐसी शखसियतें आफ़तों में पड़कर क्या करती हैं, यही वे बातें हैं जो जान लेना ज़रूरी है:—

१—आफ़त आई और इनका चित्त काहिल बना। सब तरफ से हटकर उसी के हल में लगा।

२—खूब काम करने के बाद यानी थककर चूर होने के बाद तन-मन दोनो को काहिल बना दिया, यानी ढीला छोड दिया।

३—छोटी-से-छोटी असुविधा का फ़ौरन इलाज कर डालना।

४—बोझ से दबकर हँसते-हँसते कन्धा बदल लेना, यानी काम के बोझ से बिना घबराये, चिड़चिडाये आसान तरीक़ा निकाल लेना।

५—आफ़त क्यों आई, कैसे आई, कहाँ से आई, यह न सोचकर उसके दूर करने में लग जाना।

६—मौत के पंजे में फँस जाने पर भी सच्चे खिलाडी की तरह ज़ोर लगाते रहना और बच निकलने की उम्मीद बनाये रखना।

७—आफ़त सिर पर आते ही अपने में डर पैदा करना और उस डर

से, आफ़त से बच निकलने का उपाय सोचने का काम लेना।

८—अपने साथियों के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना कि वे हर वक़ तुम्हारे फ़ायदे की ही सोचें और कोई नुकसान न होने दें या कम-से-कम नुकसान करें।

९—अपने लिए और बिलकुल अपने लिए कुछ-न-कुछ वक़ ज़रूर निकाल लेना।

१०—अन्याय को कुचलते रहना, नहीं तो वह तुम्हे कुचलेगा।

११—आफ़तो का स्वागत करना, क्योंकि वे तुम्हें—

(अ) जगाती हैं,

(ब) सबक देती है,

(स) अक़ल से काम लेना सिखाती है,

(द) जीवन की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायक होती हैं।

१२—तुम्हारा सुख तुम्हारी चित्त की एकाग्रता पर निर्भर है और वह यह कि वह कहाँ लगता है ? कितनी शान्ति के साथ लगता है ? कितनी दृढ़ता के साथ लगता है ? और कितनी होशियारी के साथ ?

काम की काहिली चित्त से खूब काम लेने को कहते है, पर वह काम होगा वह जो हम लें। अपने ऊपर फ़तह हासिल करने का यही एक तरीका है। अपने पर फतह पाना औरों पर फ़तह पाने की कुंजी है। अपने पर फ़तह हासिल करने की सोचना गधे के सींग खोजना जैसा है। औरों को जीतने की सोचो ही नहीं। तुमने अपने को जीता और सब तुम्हारे भक्त बने। जिसका दिल काबू में है उसके लोग मुरीद बनना चाहते ही है, वह मुरीद बनाता नहीं। काम की काहिली यह देन तुमको देगी।



: १३ :

आफतों से भिड़न्त

विजय बाहर नहीं है। वह तुम्हारे अन्दर है। उस विजय के हाथ के तुम बस हथियार भर बन जाओ। वह आफतों से भिड़ लेगी। उसकी सुनो और लड़ने कूद पड़ो।

अक्ल तुमको मिली है और इसलिए कि उससे काम लो। उसका काम यही है कि तुम अन्तरात्मा की सुनो। पुरानी यादों के लबादे को उतार कर फेंक दो। आज की लड़ाई आज के हथियारों से लड़ो। आज के हथियार भी आज गढ़ो। आज सुने, देखे, सूँघे, चाखे और छुए से फायदा उठाओ। आज के तजुर्बे को भी आज के हथियारों की गढ़न में मिलाओ। तुम्हारे हथियार आज के न रहकर अब के बन जायँ।

ऊपर की सलाह मानकर तुमको पछताना न पड़ेगा और यों न कहना पड़ेगा कि ऐसा कर लेते तो हम यह कर डालते। पछताने के लिए कुछ छोड़ो ही नहीं।

हथियारों को कहीं टेक-भ्रम न समझ बैठना। लड़ाई ने तुम्हारे कान ही नहीं, मन भी गन्दा कर रखा है। ऐसा समझ बैठना बड़ी बात नहीं। लड़ाई इन हथियारों से नहीं जीती जाती। नहीं तो अब तक सारी दुनिया पर हिटलर का राज्य होता, या लार्ड जार्ज सारी दुनिया को सन् १९१८ में ही अँग्रेजों को सौंप देते। रामचन्द्र के वीरों ने लङ्का नहीं जीती थी। लङ्का जीती थी, रामचन्द्र की उस दिल की सफाई ने जिससे उन्होंने विभी-

पण को गले लगाया था। आफ़त की राक्षसी सेना, तीरों तोपों से न जीती जायगी। उसके लिए ज़रूरत होगी उसके राजा अहंकार को कुचलने की, जो तुम्हारी हृदय-कुटी में घुसकर विजय सीता को भगा ले जाने की सोच रहा है।

जिनका मन साफ़ है, उनसे प्रकृति बातें करती है। व्याकरण-शास्त्री के के लिए दाल घुलना दाल घुलना है। पर वही दाल घुलना मन के साफ बुद्ध के लिए क्या था, पता है? उसके लिए दाल नहीं घुल रही थी, विजयदेवी अपने गन्दे वस्त्र उतारकर अपना नंगा यौवन दिखा रही थीं। तभी तो यशोधरा-जैसी राजसुन्दरी और राहुल-जैसे गुलाब के फूल को छोड़ वे उससे नाता जोड़ने चल दिये। इन एम० ए०, बी० ए०, शास्त्री, उपाध्याय, आलम-फ़ाज़लों के दिल गन्दे हैं, मुँदे हुए हैं, जभी तो देख लो, 'भलें सेठ का आजकल, पंखा बी० ए० पास', इनका व्यवहार जभी तो अव्यावहारिक होता है। ये वेद के नहीं (यानी ज्ञान के नहीं) वेद में लिखे शब्दों के अर्थ कर सकते हैं। प्रकृति की बोली का एक अक्षर भी इन्हें नहीं आता।

नसीहत की, सलाह की किसको ज़रूरत नहीं है? और नसीहत कहाँ नहीं है? वह सब जगह है। ये भलेमानस अहंकार का परदा हटायें तो! मोह के जेलखाने में मन की दीवारें तोड़ डालो, माया का फाटक उखाड़ फेंको, लोभ की हथकड़ियाँ चूर-चूर कर दो और गुस्से को खत्म कर दो। देखो अभी प्रकृति तुम्हारे सामने सारा भेद खोलकर रख देगी। विज्ञान के झमेले में न पड़ना। उसने सिवाय हमारे मान, माया, लोभ और गुस्से को स्थूल रूप देने के कुछ भी नहीं किया। इसकी जड़ में यही थे। पैदा भी यही होने थे। जैसे आजकल के संगठन की जड़ में नफ़रत है और ये वही फल लायेंगे जो उसमें है। न विज्ञान बुरा, न संगठन। और कुकैन ही क्या बुरी, ज़हर ही क्या बुरा? कुकैन चीर-फाड में बड़े काम की, जहर बीमारी का इलाज। पर व्यभिचारी कुकैन खाते हैं व्यभिचार के लिए और मानी क्रोधी जहर खाते हैं अपघात के लिए। अन्तरात्मा की सुनना सीखो।

विज्ञान तुम्हारी मदद करेगा। मन के गुलामो को विज्ञान खा जायगा। इसे जवानो, याद रखना। हम विज्ञान जानते हैं, हम भौतिक-विज्ञान के पण्डित हैं, हम रसायन-शास्त्र के ज्ञाता हैं, हम अर्थ-शास्त्री हैं, हम सिद्धान्त-शास्त्री हैं। आप कुछ नहीं जानते, अगर आदमियो की तरह रहना नहीं जानते।

हमें किसी चीज की जरूरत नहीं है। जरूरत है खुदी से नाता तोड़कर खुदा से नाता जोडने की। जवानो, खुदी, खुदा, डरावनी चीजें नहीं। खुदा से नाता जोड़ने का मतलब है सचाई को मानना। हम चीजों को जानते हैं, सचाई को नहीं। जो यह जानता है कि चॉद है, सूरज है, वह बेवकूफ, मूर्ख, जाहिल। जो यह जानता है वे हैं और इसलिए है, वह समझदार, ज्ञानी, पण्डित, आलिम। बन्दूक है और कैसे चलती है यह सिपाही जानता है और वह जाहिल है। बन्दूक कब और किस पर चलाई जाती है, जो यह जानता है वह जनरल है, इससे कुछ समझदार है। बन्दूक चलाने का कब वक्त आता है, कहॉ वक्त आता है, जो यह जानता है वह वजीर है, वह जनरल से कहीं ज्यादा समझदार है। बन्दूक आदमियो पर चलाने की चीज नहीं, सिर्फ डराने की चीज है, जो यह जानता है वह पुरोहित है, पण्डित है, विद्वान् है। इन सबकी ज्ञानियो मे गिनती की जाती है। बन्दूक तोड फेकने की चीज है। खुदा मुझमें है और सब में है, जो ऐसा मानता, जानता और व्यवहार करता है वह महात्मा है, साफ मन है। वह परमात्मा के निकट है। उसकी सुनो। आफतें भाग जायॅगी।

"जिन खोजा तिन पाइयॉ, गहरे पानी पैठ"—सचाई को खोजो, वह मिलेगी। एक औरत मर गई। यह जानना सचाई जानना नहीं है। वह जहर खाकर मर गई। यह जान लेना सचाई तक पहुॅचना नहीं है। किसने जहर लाकर दिया, क्यो दिया, यह भी सचाई नहीं है। सचाई है यह जानना कि जहर खाने पर किन बातो ने उसे मजबूर किया? क्यो वह उन बातो से मजबूर हुई? क्या किया जाय कि औरतें यो मजबूर न हुआ करें, इत्यादि। दुनिया जीती रही है, जी रही है, जीती रहेगी; जीवन का सिलसिला यो-

१२५७

ही चलता रहेगा। फिर भी गुजरा कल वापिस नहीं आएगा। आज, आज ही रहेगा। जितने काम हो रहे हैं, सबके पीछे कोई मतलब रहता है। उस मतलब को जानना ही काम है। मतलब अहंकार है तो छोड़ना सफलता है। मतलब निर्विकार है, साफ है, भला है तो अपनाना, अनुकरण करना, नक़ल करना सफलता है।

'कोई न हो तो पगड़ी से सलाह ले लो'—यह बड़ों की नसीहत है। ठीक है। सोचकर काम करना ही चाहिए। सोचना बुद्धि का काम है। बुद्धि काम को सरल और सीधा बना सकती है। काम करा नहीं सकती। काम मे लगाती और कराती है लगन। दिल मे लगे बिना काम होगा ही नहीं, होगा तो ढीला होगा और अपना न होकर किसी और का होगा। बुद्धि लगन के बिना मरा हुआ सुन्दर सुडौल घोडा है। सिद्धान्त, वेद, गीता, कुरान, बाइबिल, त्रिपिटक याटकर कभी किसी ने कुछ नहीं किया। रत्ती-भर लगन से, इन सब मे क्या है, यह यों ही समझ मे आ जाता है। महापुरुषों के अनुभव किताबों मे हैं; पर सब-के-सब नहीं हैं। सबके सब तो हवा में है, वायु-मण्डल मे है। लगन तुम्हारे मन को रेडियो मे बदलेगी और हवा मे से तुम इन भावों को पकड लोगे। हाँ, एक-चित्तता की खूँटी तो मरोड़नी ही पड़ेगी। तुम्हे अनेकों अनुभव ऐसे हाथ आयेंगे, जो किसी किताब में नहीं मिलेंगे। ईंट, पत्थर, घास-पात और काग़ज वाली छोटी-छोटी किताबो से अनुभव आ भी कैसे सकते हैं और जो-कुछ आ भी गया है, वह बोली, कलम, स्याही से ठीक ही रहा होगा, इसका भी क्या ठिकाना! जभी तो सभी सन्त इन किताबों के खिलाफ आवाज उठाते ही हैं। जो सन्त हैं और ऐसी आवाज नहीं उठाते वे या तो सन्त ही नहीं है या वायु-मण्डल में से उनके पल्ले ही कुछ नहीं पड़ा। जब तक नई चीज पल्ले न पड़े, लगन नहीं लगती और लगन-इंजिन के बिना काम की गाडी नहीं खिचती।

लगन के बिना जीते-जी मुर्दे बना रहना है। बुद्धिमान बनकर इसके बिना मारे-मारे फिरोगे। तुम से और काम ले सकेंगे, तुम औरों से काम

। ले सकोगे। लगन पैदा करो, छोटी-बड़ी कैसी भी। दिल हिलाओ, देह हिलेगी। पास वाले भी हिल जायेंगे। लगन जोर की होगी तो दुनिया हिल उठेगी।

लगन कैसे लगे? तुम आफतों से खिजकर किस पर खीज उठते हो? कौन बात तुम्हारी आत्मा में खुजली पैदा कर देती है? क्या सुनकर तुम भिन्ना उठते हो? बस, उसी खीज को मिटाने में, उसी खुजली को दूर करने में, उसी तिलमिलाहट को मिटाने में लग जाओ। जब तक न मिटा लो, दम न लो, शान्ति न लो। शान्ति निठल्लेपन का नाम नहीं है। शान्ति मन की एक हालत का नाम है। वह हालत मन को लगन के पक जाने पर नसीब होती है! पण्डितों ने पक्की लगन का नाम रखा है 'अवगाढ़ सम्यक्त्व'। लगन जब बालक होती है तो खूब तोड़-मरोड़ करती है। खूब शोर-गुल करती है। खूब लड़ती-झगड़ती है। पर ऐसी लगन वाली आत्मा भी खुश रहती है। लगन जब बड़ी उम्र की हो जाती है तब इतनी शान्त दीख पड़ती है, जैसे वह मर गई हो। जोर से घूमने वाला लट्टू शान्त, स्थिर-सा दीख पड़ता है, पर वास्तव में वह बहुत काम कर रहा होता है। सर्जन के काम में भारी-से-भारी आत्माओं के पास समय कहाँ, शक्ति कहाँ, ध्यान कहाँ? अब उनकी जीभ नहीं चलती। सारी देह ही जीभ बन गई है। और वह चल ही रही है। मान, माया, लोभ और गुस्सा जो तुम्हें नचाते थे, अब तुम्हारे इशारे पर नाचते हैं। तब हारते थे, अब हराते हैं।

सुख-दुख की तरह वीरता और कायरता भी तुम्हारे ही अन्दर हैं। भोली-भाली डरपोक गाय बच्चे की खातिर शेर को सींग जमा देती है। यह क्यों? वीरता उसमें थी। बछड़े के प्रेम ने उसमें लगन पैदा की और उसने उसका उपयोग कर लिया। तुम्हें यह सुनकर अचरज मालूम होगा कि कायरता वीरता का दूसरा नाम है। सुस्त वीरता, काहिल बहादुरी, कायरता कहलाती है। अचरज न करो। नौकर दरोगा और बरखास्त दरोगा एक ही होते हैं। पर दोनों में फर्क कितना है? बरखास्त जनरल को एक मामूली सिपाही टोक सकता है और वह सिपाही, जो कल उनके

सामने जाते भय खाता था ! कायरता गुस्से की ठोकर खाकर सुस्ती फेंक वीरता बन जाती है। लगन वाले आदमी औरो पर गुस्सा न कर अपनी कायरता पर गुस्सा उतारा करते हैं और यों उसे मैदान में ला खड़ा कर देते हैं। गुरु गोविन्दसिंह यह मानते थे। तभी तो कह गए—"चिड़ियों को बाज बनाऊँ तो गोविन्दसिंह कहलाऊँ।"

गड़े लट्टू और घूमते लट्टू को कौन नहीं पहचान लेता ? सवाल निकालने मे मस्त और पीनक मे डूबे हुए मे कौन फ़र्क नहीं कर सकता ? लकड़ी के बल पर नाचने वाले बन्दर और अपनी मरजी से किलोल करते बन्दर को कौन नहीं पहचानता ? फिर काम में लगाये गए और लगे के समझने में क्यों मुश्किल होगी ? जो लगाये जाते हैं, वे गाड़कर खड़े किये लट्टू हैं। वे मुर्दा हैं। उनकी नकल न करना। सच्ची, न झूठी ! झूठी नकल है—जैसा और करे वैसा करना, यानी लँगोटी बाँधकर गाँधी बनना। सच्ची नकल है—उन जैसा उत्साही, जोशीला, निडर और लगन वाले बनना। यानी सचाई पर डटकर गाँधी बनना। गड़े लट्टुओं मे न उत्साह होता है, न काम ! नकल किसकी की जाय ? आग में फँसे कीड़े को निकालने वाले चिमटे की नकल नहीं की जाती और न उससे कोई सबक सीखा जा सकता है। नकल की जाती है आग मे फँसे कीड़े को हाथ डालकर निकालने वाले आदमी की और वह भी उसके उत्साह की, काम की नहीं। कहीं हम इस तलाश मे थोड़े ही बैठे रहेंगे कि कब कीड़ा आग में गिरे और हम निकालें !

कोई बाप अपना नाम जपने वाले बेटे से खुश नहीं हो सकता। राम अगर कोई सच्चे मानी मे राम है तो राम-नाम जपने वालों को माफ नहीं करेगा और अगर वह माफ कर भी दे तो कोई पानीदार आदमी उस माफ़ी को पाकर खुश नहीं होगा। चोरी से एक कच्चा आम तोड़ने वाले साधु ने राम जपकर प्रायश्चित्त नहीं किया था। उसने राजा के दरबार में पहुँचकर अपना हाथ कटवाया था। वह था भी पानीदार, बीसवीं सदी का बेहया धर्मात्मा नहीं था। हाथ-पर-हाथ रख बैठकर तुम सिर्फ काहिलों को धोखा

दे सकते हो; समझदारों को नहीं। पर तुम ऐसा करने की सोचो भी तो क्यों? लगनवाले के सोच, समझ और काम एक लाख छियासी हज़ार मील फ़ी सैकिण्ड की चाल से चलते हैं। वह सुस्ती से काम नहीं किया करता।

अगर सचमुच कोई उलझन समझने में ही नहीं आ रही और सोचना ही है तो उठाओ कुल्हाड़ी और लगो लकड़ी चीरने। और देखो तुम्हारी बुद्धि चुटकियों में उसे कैसे सुलझा देती है। जितनी ज्यादा उलझी गुत्थी हो उतने ही जोर से काम मे लगो। बैठो नहीं, बुडबुडाओ नहीं, सोच मे न पडो, औरों से न अडो, न हल के लिए लडो। बैठे हो तो खडे हो जाओ, खड़े हो तो हाथ हिलाओ, घर मे हो तो आँगन मे आओ, आँगन मे हो तो बगीचे मे जाओ। खुरपा उठाओ और घास निलाओ। वहीं जवाब मिलेगा। दुनिया क्या है? इस सवाल का जवाब गुरु नानक ने [illegible]लियाँ साफ करते-करते दिया था। कबीर साहिब कपडा बुनते-बुनते क्या-कुछ नहीं सोचते थे? उस जुलाहे ने बीसवीं सदी के जवान प्रसिद्ध कवि रवीन्द्र को मोह लिया। काम करते सोचना काम का होता है। बे-काम सोचना बेकार जाता है। जाता है तो जाओ, दुःख इस बात का है कि तुम्हें बेकार कर देगा।

ऊपर की पंक्तियो में बार-बार काम करने पर जोर दिया गया है। उस की वजह है। आजकल के जवान काम करते शरमाते हैं। काम न करना हिन्दुस्तान की मिट्टी मे नही है। यूरोप की मिट्टी में भी नहीं। कहीं की मिट्टी में नहीं। काम न करने की थोडी-बहुत बीमारियाँ सब जगह हैं। पर यहाँ इस बीमारी ने पचास-साठ वर्ष मे ही जोर पकडा है। यह बीमारी स्कूल की ऊँची क्लासो से शुरू होती है और कालेज की ऊँची क्लासो मे आकर लाइलाज हो जाती है। स्कूल और कालिज मानो इसके अड्डे हैं। मतलब यह कि यह बेहद बढ़ती जा रही है। इसीलिए इस पर ज्यादा जोर दिया गया है। पर याद रहे कि हमने जहाँ भी काम मे लगने पर जोर दिया है वहाँ हमारा मतलब चिंताओ के लतियाने का रहा है। काम मे जानवरों की तरह लगना काम नहीं कहलाता। मजदूर काम मे लगकर भी

काम नहीं कर पाता। सिपाही लड़ाई जीतकर भी नहीं जीतता। लड़ाई खत्म होने के बाद वह डाके और चोरी से ही पेट भर सकता है। अगर उसके मालिक दया करके उसको नहीं निकालते तो वह ठाली रहकर तबेले के घोड़े की तरह तबेले की दीवारें तोड़ा करता है। उसने काम किया भी कब ? उससे काम लिया गया। ज़बरदस्ती भरती का कानून यह साफ बताता है कि पेट भरे लड़ना नहीं चाहते। भूखे ही लड़ते हैं। वे दुश्मन से नहीं लड़ते, पापी पेट से लड़ते हैं। दो लड़नेवाले मुल्कों में जीत उसकी होती है जिसके पास जी से आज़ादी के लिए लड़नेवालों की तादाद ज्यादा हुआ करती है, यानी सचमुच काम करनेवालों की। काम का नाम उसी काम को दिया जाता है जो काम करने वाले में अपनी प्रतिक्रिया, कोई गहरा निशान, दिल पर छोड़ जाय, यानी जीवन में किसी गुत्थी का हल सुलझा जाय। काम एक सबक और भी देता है। वह यह कि वह उस समय की हालत पर असर डालता है। कबीर का काम बुनना नहीं था। कबीर का काम था ईश्वर को ढूँढ़ना, सोते हुओं को जगाना; हिन्दू-मुसलमानों को आदमी बनाना, भूले-भटकों को राह बताना। राजाओं और अमीरों को उच्छृङ्खल न होने देना। बुनना कबीर को रोटियाँ देता था। वह रोटियाँ देता था, पेटुओं की नजरों में। मेरी नजर में वह आज़ादी देता था, मस्ती देता था, ईश्वर का और उसकी सृष्टि का भेद बताता था। उसकी गाढ़ विद्यापीठ थी। उसके सामने फैला काम वेद का पन्ना था। देखो, 'झीनी झीनी झीनी बीनी चदरिया' में इंगला, पिंगला, सुषुम्ना वगैरः हठयोग और 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' में उपनिषद् मौजूद हैं। गांधी का चरखा कातना काम था। अली-बन्धुओं में मुहम्मदअली को मैंने चरखा कातते देखा था। घण्टे भर में दस गज सूत भी नहीं निकलता था, पर वह काम था। वह काम उनको रोटी नहीं देता था। शायद एक-आध टुकड़ा ले जाता था। पर था वह काम। उस काम में से वे जगे और औरों को जगाया।

खुलासा यह कि काम की मशीन न बनना ! मन-मस्तक दोनों लगाकर

मत और विश्वास के साथ लगोगे तो तुम्हारी गिनती हिम्मत वालों में गी। और बुझे मन से लगोगे तो ग़ुलामों में, कायरों में गिने जाओगे। म्मत के साथ और मन के लगने से तुमको मन पर काबू करना आ ायगा और बुझे मन से लगकर तुम मन के काबू में हो जाओगे। यह ानकर तुम्हें अचरज होगा कि मन को पूरी तरह काम में लगाने के बाद न तुमको जगत् की बड़ी-बड़ी गुत्थियाँ खोलकर बता देगा और कुछ ही देनों में तुम्हारी गिनती विचारकों में होने लगेगी, दार्शनिकों में होने लगेगी। दर्शन-शास्त्री तुमको निठल्ले मिल सकते हैं, पर दर्शनकार निठल्ले नहीं थे। वे तो घूमते लट्टू की तरह काम में लगे रहते थे। कुछ पैदा करने वाला काम ही काम कहलाता है। कोरा काम काम नहीं। कोरा काम तो उस भाप की तरह बेकार जाता है, जिसको कभी कहीं रेल का ड्राइवर ज़्यादा होने से निकाल दिया करता है।

आफ़तों से भिडने में इस तरह का काम बड़े काम आयेगा। आफ़तों में बहुत-सी आफ़तें नासमझी की हुआ करती हैं और जब काम में लगकर मन जगत् के जंजाल को सुलझाकर तुम्हारे सामने रख देगा तब आफ़तों से जो भिडन्त होगी उसमें तुम्हारा पल्ला भारी रहेगा।

आफ़तों से भिडकर हमारी हार क्यों हुआ करती है? अगर उन बातों को हम जान लें तो उनसे भिडने में हमें और भी आसानी होगी। वे हैं:

(१) यह मान बैठना कि बिना पैसे कुछ हो ही नहीं सकता।

(२) हम तो मामूली आदमी हैं। हमारी कौन सुनेगा?

(३) विरोध का सामना हमसे न हो सकेगा।

(४) दुनिया न बदली, न बदलेगी।

(५) नये पुराने की टक्कर।



द्वितीय खण्ड

: १ :

विश्वास

'रघुकुल रीति सदा चल आई, प्राण जाहि पर वचन न जाई।' तुलसीकृत रामायण की यह आधी चौपाई है। डॉडी मार्च में इकतारे पर जब यह गाई जाती थी तो लाखो के दिल हिला देती थी, सैकड़ों की नसो में खून दौड़ने लगता था और वे हथेली पर सर रखकर देश की आजादी के मैदान में कूदने को तैयार हो जाते थे। वास्तव में वचन देकर निभाना ही चाहिए। पर हर कोई नहीं निभा सकता। हाँ, हर कोई वचन दे सकता है। वचन देकर निभाना बहादुरों का काम है। पर वचन निभाने से बढ़कर एक और बहादुरी है और वह है अपने को वचन देकर निभाना। बहादुर भी वचन देते हैं और कायर भी; पर बहादुरों के वचन उस ज्ञान-वज्र के टुकड़े होते हैं जो बहादुर को अपनी शक्ति की जानकारी से होता है, यों वे अटूट होते हैं। कायर के वचन अज्ञान कपूर के टूक होते हैं, जो आपत्ति की हवा पाकर उड़ जाते हैं। अपने को वचन देना यानी अपने में बँध जाना, अपनी आत्मा और उसकी बेहद ताकत को मान लेना, उसकी ताकत पर भरोसा हो जाना। यही अपने को वचन देना, विश्वास, श्रद्धा, प्रतीति, दर्शन, अकीदा और धर्म नामो से पुकारा जाता है! जो अपने प्रति सच्चा है उसके बल का ठिकाना नहीं। लगन कहते हैं,-सब ओर से हटकर मन

एक ओर लग जाना। और ऐसी लगन बिना विश्वास के नहीं होती, र वह विश्वास किसी किस्म का क्यों न हो। विश्वास की किस्में हो सकती , पर सब किस्मों की जड में आत्मबल का विश्वास रहता ही है। विश्वास ा अर्थ है अपने को वचन देना, यानी अपने को अपने सुपुर्द कर देना या अपने को पहचान लेना। अंग्रेजी मे इसे 'सैल्फ कण्ट्रोल' कह सकते है। कोई लगन वाला आदमी मन टटोलकर इस सचाई को जान सकता है। लगन वाला आदमी साफ-साफ देख सकता है कि किस प्रकार उसकी तमाम ज्ञानेन्द्रियाँ सिमटकर उसी के चारों ओर जमा हो गई है, जिसका उसको विश्वास हो गया है। रावण और राम का डीलडौल मे कोई मुकाबिला ही न था। रावण राम को बगल मे दबाकर भाग जा सकता था; पर राम से मारा गया। क्यों? रावण दशमुख भी था। राम थे एकमुखी। दशमुख का अर्थ ही यही है कि उसका मन दसियों ओर चलता था। वह भला एक ही ओर मन रखने वाले राम का कैसे मुकाबिला कर सकता था। लडाइयाँ देह से नही जीती जातीं, लगन से जीती जाती हैं। राम को सिर्फ सीता लेनी थी, न लङ्का चाहिए थी, न साकेत का राज। रावण को चाहिए थी सीता, लङ्का का राज, दक्षिणी हिन्दुस्तान पर कब्जा और न जाने क्या-क्या? उसे हारना ही था, उसे किसी एक का विश्वास जो न था! राम का एक में विश्वास विभीषण को जंच गया। लङ्का धूल मे मिलकर भी बच गई। सूरज में बडी आग है, पर जलता नहीं उससे एक तिनका भी। आतशी-शीशा हाथ मे लेकर उसी आग से आदमी कपडा जलाकर गाँव जला डाल सकता है। हम-तुम मे, साढ़े तीन हाथ के होते हुए भी, बडी ताकत है। हम भी सूरज की तरह किरण बखेर रहे हैं। विश्वास के आतशी-शीशे से उनको इकट्ठी कर सकते हैं और चमत्कार दिखा सकते है। विश्वास व्यक्ति मे भी हो सकता है, काम मे भी, विचार में भी, सम्भावना मे भी; पर होना चाहिए वह किसी काम का, जिसकी खातिर जान लड़ाई जा सके। बिखरी हुई ताकतों के धागों को मिलाकर एक नोक निकालने का विश्वास ही एक मन्त्र है। सुजन की सुई की नोक मे वही धागा पिरो सकना

है और आजादी की चादर मे आई खोंप को वही सीं सकता है।

चारों ओर हाथ मारने वालो के हाथ कुछ नहीं आता। अकबर राज की बागडोर हाथ मे रख दीन-इलाही को नहीं चला सका। राज न छोडना ही दीन-इलाही में विश्वास न होने का सबूत है। महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद विश्वासी थे, आत्म-विश्वासी थे, आत्मबल विश्वासी थे, चमत्कार दिखला गए। असल बात यह है कि कोई कितना ही ईमानदार और समझदार क्यों न हो, अपने में जब चाहे विश्वास पैदा नहीं कर सकता। अब सवाल पैदा होता है कि यह विश्वास आता कहाँ से है? आता भी कहीं से नहीं है, यह भी ठीक है। तब क्या बात है? बात यह है कि मैं बाजार मे खड़ा हूँ, हलवाई की दुकान पास है। रुपये से खाना मिल सकता है, यह भी मैं मानता हूँ। मेरी जेब मे रुपया भी है। पर जेब मे रुपया होने की बात मुझे मालूम नहीं। मैं भूखा खड़ा-खडा ललचाई आँखो से दुकान की ओर देख रहा हूँ। पाँव उस ओर जाने को उठते ही नहीं, मेरा सारा बल बेकार, मन तरह-तरह की तदबीरें सोच रहा है। अचानक जेब मे हाथ जाता है, रुपये का ज्ञान होता है, मन एकाग्र होता है, बल आता है, दुकान की ओर चल देता हूँ। यूँ विश्वास आता नहीं है, जागता है। यानी विश्वास हम में ही है, प्रेम की तरह यह भी हमको जन्म से ही मिला है। प्रेम का मिथ्या व्यवहार कम नाम पाता है, इसी प्रकार विश्वास का मिथ्या व्यवहार अन्धश्रद्धा के नाम से पुकारा जाता है। विश्वास के विना हम एक क्षण भी नहीं रहते, पर वह सब अन्ध-विश्वास ही होता है। सती होने के नाते सीता आग में नहीं जली थी, इस विश्वास पर कई सच्ची औरतें जान दे चुकी हैं। कटे सिर को देवी फिर जोड़ देती है, इस विश्वास पर दसियो ने अपना सिर काट डाला है। सच्चों को ईश्वर तैरा देता है, इस विश्वास पर अनेकों सच्चे डूबकर मर चुके। ये सब विश्वास हैं अन्ध-विश्वास। फलित ज्योतिष का विश्वास, छींक का विश्वास, शकुनो का विश्वास; और न मालूम क्या-क्या? आजकल विश्वास बाजारू चीज बनी हुई है। महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद यह विश्वास नहीं कर सकते कि

आजकल के आदमी इतने विश्वासी हो गए हैं। मतलब यह कि आज विश्वास इतना बढ़ा हुआ है कि उसे कम करने से ही हम आत्म-विश्वास तक पहुँच सकते हैं। पूजा-नमाज, मन्दिर-मस्जिद, चोटी-दाढ़ी, छूत-अछूत, मोमिन-काफिर, आर्य-म्लेच्छ इत्यादि अति विश्वास की ही उपज हैं। आदमी क्या करे, विश्वास उसमे ऐसे ही है जैसे उसके हाथ-पाँव। हाथ से वह जहर खा सकता है, पाँव से वह आग में कूद सकता है, विश्वास से वह सर कटा सकता है और काट सकता है। उसमें विश्वास है, इसलिए राजा में विश्वास करना ही होगा, पार्टी में भी, साधू मे भी, नरक मे भी और ईश्वर में तो विश्वास लेकर ही पैदा हुआ है।

बाजारो मे आवाज सुनाई देती है, अंजील पर विश्वास लाओ, कुरान पर विश्वास लाओ, वेद पर और न मालूम किस-किस पर विश्वास लावें कहाँ से ? हमारे पास पहले से ही है। जो है वह बहुत कामों में फँसा है, उसे फुरसत कहाँ ! विश्वास हममें है, लाने की जरूरत नहीं है। उससे ठीक काम लेने की जरूरत है। विश्वासी सब हैं, अविश्वासी कोई नहीं, पागल भी नहीं। सब धर्म एक हैं, ऐसा विश्वास करने वाला अपने पैदायशी धर्म हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, इस्लाम को छोड सकता है, विश्वास को नहीं। धर्म और विश्वास एक माने जाने वाले शब्द हैं तो धर्म भी नहीं छोड़ा जा सकता। 'ईश्वर है' इस पर विश्वास नहीं करते, मत करो, 'ईश्वर नहीं है' इस पर विश्वास करो, विश्वास से बचकर कहाँ जाओगे।

विश्वास आत्मा का गुण है और इसीलिए है कि वह अपने (आत्मा के) होने की जानकारी करा दे। इसका दुरुपयोग जीवन की धज्जियाँ उड़ा देगा, आदमी से आदमी को लड़ा देगा, मनुष्य को पशु बना देगा, सुख को भगा देगा, शान्ति को पास न आने देगा और इसका सदुपयोग एक की सब पर, सब की एक पर और सब की सब पर विजय-लाभ करायेगा। इस दुनिया को रहने की जगह बनाएगा, स्वर्ग और मोक्ष यहीं ला धरेगा।

विश्वास की किस्में

बिजली की तरह विश्वास भी गरम-ठण्डा दो तरह का होता है। यहाँ हमारा मतलब गरम विश्वास से ही है, यानी सच्चे विश्वास से।

विश्वास ज्ञान को काम में लगा देता है। ज्ञान की तसल्ली जानने मे नहीं है, करने मे है। आत्मा ज्ञानी है, वही देह-रथ का सारथी है। सारथी रथ पर रथ चलाने के लिए ही सवार होता है, सवार होने के लिए सवार नहीं होता। रथ पर सवार होकर रथ न चलाना अपनी हँसी उड़वाना है। विश्वास के बिना ज्ञानी आत्मा देह से उचित काम न लेकर हँसी का निशाना बनता है।

जिनका विश्वास ठण्डा पड़ गया है उनके नाम हैं—अविश्वासी, मिथ्याभिमानी, कुविश्वासी इत्यादि। ये अविश्वासी कई प्रकार के हो सकते हैं।

१. मरे-मन—ऐसे लोगों में बाहरी कोई कमी नहीं पाई जाती। मोटे ताजे, खाते-पीते, भले-चंगे, बड़े दयालु, बड़े ईमानदार; पर करेंगे कुछ नहीं। जोखम से कोसो दूर भागेंगे। जीवन का कोई उद्देश्य नहीं बनायेंगे। आराम-पसन्द होंगे और बे-परवाही की जिन्दगी बितायेंगे। आत्मा तो उसके अन्दर रहती ही है, पर उसकी तमाम ताकतें सोई पड़ी रहती हैं। इनसे कुछ आशा ही नहीं की जा सकती, जब तक इनमे विश्वास न जागे और लगन न लगे। ऐसा कोई हिन्दू अगर इस्लाम में बताये सातवें आसमान में बैठे एक ईश्वर का विश्वास कर मुसलमान हो जाय तो मुझे खुशी होगी, क्योंकि यह विश्वास उसमे ज्ञान फूँक देगा, ज्ञान को काम मे लगा देगा। कोई एक अदृश्य ताकत है जो हम सबसे काम ले रही है, यह सच्चा विश्वास है, गरम विश्वास है और ऐसा विश्वास वाला कुछ कर गुजरेगा ठीक इसी प्रकार कोई मन-मरा मुसलमान हिन्दू-धर्म में बताए ईश्वर के सब जगह मौजूद होने मे यकीन ले आए तो हर सच्चे मुसलमान को खुशी होगी, क्योंकि यह मुसलमान खुदा का जानदार बन्दा बन जायगा। अकीदे वाले का नाम ही मोमिन और मुसलमान है। विश्वास लाये बिना 'मरे-मन'

न जान न पड़ेगी, फिर चाहे वह विश्वास व्यक्ति में हो, सिद्धान्त में हो, धर्म में हो, या किसी काम में हो। 'धर्म बदलना' जैसा बोल रिवाज में आ गया है, पर है बिलकुल ग़लत मुहावरा। 'धर्म लाना' समझ में आता है। बुराई छोडो, नेकी पर धर्म लाओ। जो हिन्दू नहीं है उसे मुसलमान हो ही जाना चाहिए। जो मुसलमान नहीं उसे हिन्दू बनाना ही ठीक है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के अर्थ धर्मात्मा हैं। 'मैं हलवाई' कहने वाले को हलवा बनाना आना ही चाहिए, नहीं तो वह हलवाई ही नहीं। मैं जैन, मैं सिक्ख, मैं पारसी, मैं मुसलमान, मैं हिन्दू कहने वाले धर्मात्मा होने ही चाहिएँ, नहीं तो वे वे नहीं। धर्मात्मा का अर्थ है विश्वासी, अक्ल-मन्द। विश्वासी निकम्मा नहीं मिलेगा, वह तो पैदा होने से मरने तक दुनिया को कुछ ऊँचा ही कर जायगा। 'मरे-मन' को विश्वास लाना ही पड़ेगा, नहीं तो उसकी जिन्दगी कौड़ी काम की न होगी। बे लगन आदमी धर्मात्मा नहीं होता। आदमी ही नहीं होता। 'विश्वास ज्ञान का दुश्मन,' जो यह कहे वह विश्वासी नहीं। ज्ञान सागर में उठने वाली तरंगों का नाम ही विश्वास है! विश्वास ज्ञान है और ज्ञान विश्वास। सागर तरंगों के बस चुप नहीं रह सकता, ज्ञानी विश्वास के बस निठल्ला नहीं बैठ सकता। संसार को कुछ-न-कुछ काम की चीज देता ही रहेगा। तरंगें हलकी हो सकती हैं, सो सकती हैं, पर सागर से अलग नहीं हो सकतीं। यही हाल विश्वास का है। वह है सब में, पर जागा हुआ है कम में। 'मरे-मन' में उसे जगाना ही होगा। 'मरे-मन' में ज्ञान तो जीते-मन जितना ही होता है और वह बिजली की तरह चमकदार, अनमोल रत्नों को दिखा भी देता है, पर उन रत्नों को विश्वास के बिना उठाकर कौन लाये और फिर अपनाये कैसे जायँ? मछली तैरती है, मैं तैर सकता हूँ, इस विश्वास ने तैरना सिखा दिया। पक्षी उड़ता है, मैं उड सकता हूँ, इस विश्वास ने हवाई जहाज बना दिया। बनाया ज्ञान ने यह सही, पर वह तो हमेशा है, पहले क्यों नहीं बना? विश्वास न था। पर वह तो सदा से है। उडने में कब था? ईश्वर में था, उसके चमत्कारों में था। आत्मा और ज्ञान की ताकतों में कब था? संस्कृत-

शब्दों में मुझे 'विज्ञान' शब्द ही पसन्द आया है; क्योंकि यह विश्वास ज्ञान से मिलकर बना है! विज्ञान बिना विश्वास टस-से-मस नहीं हो सकता। धर्म भी बिना विश्वास के न आत्मा को पा सकता है और न परमात्मा को। विश्वास से नकशे बनते और ज्ञान से मकान खड़े होते हैं। विश्वास कहता है—'हो सकता है।' ज्ञान करने में लग जाता है और कर डालता है। ज्ञान जागता, उठता काम में लगा ही रहता है; पर जगाता-उठाता और लगाता विश्वास है। 'मरे-मन' को उसकी सबसे ज्यादा जरूरत है।

सिद्धान्तो में बना, ग्रन्थो में पाया, बाप-दादो से हाथ लगा; जोश मे जागा विश्वास खास तौर से ज्ञान का दुश्मन होता है और वह कुविश्वास या अन्ध विश्वास नाम पाता है। वह ज्ञान-सागर मे लहरें उठाने की बजाय उन्हें दाबता है; परन्तु मन में स्वभाव-रूप से जागा विश्वास ज्ञान में लहरें उठाता ही उठाता है। वह सदा सच्चा विश्वास होता है। ऐसा विश्वास परीक्षा-प्रधान होने के नाते बड़े-बड़े काम कर जाता है। परीक्षा-प्रधानी का चित्त बड़ी जल्दी एकाग्र होता है। 'मरे-मन' को वही जगा सकता है, सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि विनाश के लिए, मारकाट के लिए, व्यभिचार के लिए ज्ञान को जगाने में भी विश्वास की जरूरत होती है, पर उस विश्वास को कुविश्वास नाम दिया जाता है—क्यो? क्योंकि हमारे जीवन का भाग रचनात्मक और अहिंसात्मक कामो पर निर्भर है। कुविश्वास सुविश्वास का एक भाग है सही, पर ऐसा ही भाग है जैसे टट्टी हमारे खाये हुए भोजन का बदबूदार और निकम्मा हिस्सा होता है, उससे काम ले लेना बुद्धिमानी है, पर उसके बनाने के कारखाने खोलना अबुद्धिमानी ही नहीं, मूर्खता है, पाप है।

विश्वास पर कुछ कहना मुश्किल और नाजुक भले ही हो, पर असम्भव नहीं। प्रेम पर कहना ही कौन आसान है? और आत्मा पर? यह तो और भी कठिन। पर कहा तो इन पर भी गया है। बुद्ध में दाल घुलने से विश्वास जाग गया, दमयन्ती की प्रेम की आँखे नल का जिक्र सुनने से खुल गईं, लैला काली होते भी मजनूँ की आँखों मे बस गई। पर क्या कोई दाल धो

किसी में विश्वास जगा सकता है और क्या कोई किसी का नल और किसी की लैला ढूँढ़ ला सकता है? मरे-मन को विश्वास की बात भर कही जा सकती है, विश्वास जगायगा वह आप ही।

विश्वास जगाये बग़ैर तुम बेकार हो, उसे जगाओगे भी तुम अपने-आप। तुम अपने को और तुम्हारे मित्र तुम को भले ही भोंदू समझते रहें, पर यह हम बताए देते हैं कि तुम्हारे भोंदूपन मे तुम्हारे ज्ञान की कमी कारण नहीं है, वह तो तुममे बहुत है। पर कारण है विश्वास, तुम्हारे विश्वास का सोया पड़ा रहना। नानक को उसके माता-पिता, भाई-बन्धु, नाते-रिश्ते वाले पागल समझते रहे, पर उसमें विश्वास जाग गया था और आज गुरुओ में शान के साथ बैठा है। ज्ञान चमकाओ और खूब चमकाओ, पर वह चमकेगा विश्वास के लेश-मात्र से। उसी को ढूँढ़ो, उसी के पीछे पड़ो, मरे-मन में जान पड़ेगी।

२—डरे-मन : ऐसे लोग अपनी आत्म-शक्तियो को संगठित नहीं कर सकते। डर से वे तमाम बिखर जाती हैं। हर काम मे उन्हें शक होने लगता है। उदासी के वे शिकार हो जाते हैं। 'यह भी ठीक नहीं, वह भी ठीक नहीं' की आदत पड जाती है। यदि वे कुछ करते हैं तो औरों के जोर देने पर, उनका मन उस काम के करने मे ज्यों-का-त्यों शंकित बना रहता है। उनके इस रोग की यदि कोई दवा है तो विश्वास। यह दवा इन पर जादू का असर रखती है। इनमें एकदम क्रान्ति पैदा कर देगी। डरे-मन सदा चिन्ता में डूबे रहते हैं। अपने पर उन्हें ज़रा भी भरोसा नहीं रह जाता। अपने को बहुत छोटा समझने लगते हैं। विचारों के लिहाज से वे कुएँ के मेंढ़क बन जाते हैं। ताकतवर होते हुए भी अपने को कमजोर मानते हैं। किसी का ऐतबार करते डर लगने लगता है। बे-परवाही बेहद बढ़ जाती है। हरेक काम मे ऐब देखने की आदत पड जाती है। खाते पीते, उठते-बैठते सशंक बने रहते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि इनका अपनी ज़िन्दगी पर कोई अधिकार नहीं रह जाता। इनकी जीवन-नैया बेपतवार की होकर जिधर चाहे बह जाती है। इनमें अगर दम

आ सकता है तो केवल यह मानकर कि हम किसी काम के लिए पैदा हुए हैं। जो और कर सकते हैं उसको हम भी कर डालेंगे। जो-कुछ हमारे पास है, उससे बहुत कुछ हो सकता है। हमारी जिन्दगी बड़े काम की है। इसी का नाम सच्चा विश्वास है। यही इनमें दम डालेगा।

मन मे अनेक भाव उठते है और असंख्य विचार। वे एक विश्वास यानी सच्चे विश्वास को छोड़कर सब-के-सब निराशा की कीचड़ मे ढकेलने वाले होते हैं। याद रहे तुच्छता का वहम आत्मा को कमजोर करता है और उच्चता के वहम से भी आत्मबल बढ़ता नहीं, घटता ही है। 'मैं सब-कुछ हूँ' के पास न बैठना, उसकी सोहबत तुमको उतना ही नुक़सान पहुँचायेगी, जितना 'मैं कुछ नहीं' की। विश्वास से ही तुम अपनी जिन्दगी पर धावा बोल सकते हो और उसी हथियार को देखकर जिन्दगी तुम्हारे सामने आत्म-समर्पण कर सकती है।

निराशा की कीचड़ मे तुम फँसे किसी भी तरह क्यो न हो, पर-निकलने का एक ही उपाय है—विश्वास। अगर तुम मे नेकी की ज़रा भी कोर बाकी है, अगर तुम मे आवाज निकालने का तनिक भी दम है तो तुम विश्वास को अपना ही लोगे। इसको अपनाये बिना चारा ही क्या है?

३ थके-मन—एक धर्म के विश्वासी में हर किस्म की ताकत जागी हुई होती है। बरदाश्त बेहद होती है, हिम्मत का बस पुतला होता है। आदतों की बेल को जड़ से उखाड़ फेंकने की ओर उसकी निगाह रहती है। वैसा कर डालने की उसमे योग्यता भी होती है। थके-मन में यह सब ताक़तें थककर बैठ गई होती हैं। देह की थकान दूर होती है खुराक और आराम से, मन की थकान दूर होती है विश्वास से। थके-मन किसी भी धर्म पर ईमान ले आये तो तर जायगा। धर्म के विश्वास मे एक ऐब भी रहता है, वह बुराई की ओर भी झुक सकता है। जैसे मूर्ति-पूजा, नरमेध यज्ञ और धर्म-युद्ध की ओर झुक सकता है। यहाँ धर्म-युद्ध से मतलब है अन्य धर्मियों से लडना। अन्य-धर्मियों से अन्य-धर्मी के नाते लड़ना बुराई है। धार्मिक विश्वास की जड़ में कट्टरता रहती है। इसलिए कट्टरता का अन्त करना

उसका धर्म बन जाता है और सैकड़ों झूठे रिवाज उसका कर्तव्य बन जाते हैं। असल में धार्मिक विश्वास को अपनाकर यानी जन्म से पाकर आदमी बुद्धि से काम लेना छोड़ देता है। नीति को एक ओर रख देता है और केवल विश्वास के बल पर अपनी ताकतों से काम लेना शुरू कर देता है। विश्वास कैसा भी क्यों न हो, ताकतों को जगाता और काम में लगाता है। ताकतें ढा भी सकती हैं और बना भी सकती हैं। अन्ध-विश्वासी ढाने में भी लगाये जा सकते हैं और बनाने में भी। पर सच्चे विश्वासी सदा बनाने में ही लगते हैं। ढाते वे भी हैं, पर उसे बुरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे बनाने के लिए ही ढाते हैं। दर्जी के कपड़े फाड़ने और बजाज के कपड़े फाड़ने को एक नाम नहीं दिया जा सकता। जानना तो सिर्फ इतना ही है कि सच्चा विश्वास हमेशा ताकतों को ठीक काम में लगाने के लिए आजाद छोड़ देता है। थकी ताकतों में दम आ जाता है और विश्वास के रहते वह कभी नहीं थकतीं।

भीतर की ताकतों की थकान है क्या चीज? ताकतें थकती-थकाती नहीं। यह तो आलंकारिक भाषा है। असल में ज्ञान में घमण्ड जागने का नाम ही है निकम्मापन। ज्ञान घमण्डी हुआ और उसने परीक्षण करने छोड़े। मन को नपुंसक कहा जाता है। वह सोचता ही सोचता है, करता नहीं। घमण्डी ज्ञान नपुंसक हो जाता है। वह जानेगा ही जानेगा, करेगा नहीं। ज्ञान में घमण्ड जागता क्यों है? ज्ञान किसी से कम नहीं रहना चाहता। विश्वास को अपनाकर उसका नम्बर दूसरा हो जाता है। विश्वास का दरजा सब धर्मों ने ऊँचा माना है। ज्ञान को विश्वास की यह उच्चता नहीं सुहाती और इसलिए वह अपना नुकसान कर लेता है और जिन्दगी को मिट्टी बना देता है। सारे आदमियों का यही हाल है। विश्वास करने के लिए अपने से बड़ी चीज चाहिए। वह उन्हें मिलती नहीं। नहीं मिलती तो गढ़ते हैं। यों तरह-तरह के देवता खड़े हो जाते हैं। एक को तो वे फायदा पहुँचा जाते हैं, पर आगे के समाज को वे फिर गड्ढे में पटक देते हैं। हाँ, तो अब यह पता चल गया कि विश्वास पैदा करने के लिए सिर्फ यह

सवाल हल करना है कि हम किस से दूसरे नम्बर पर खड़े हो ? जैनो और कुछ इने-गिनों को छोड़कर ईश्वर खुदा से दूसरे नम्बर पर खड़े होने में कोई अपनी शान मे बट्टा लगता नहीं मानता, पर उस ईश्वर में बिना समझे विश्वास लाने से काम न चलेगा। तुम्हारी ताकतें तो सच्चे-पक्के विश्वास से ही अपनी थकान उतारेंगी और वह विश्वास तो वही होगा, जिसको तुमने अपने आप अपनाया है, जिसको तुम्हारे मन ने सिर झुकाया है और जिसको तुम्हारे ज्ञान ने गुरु माना है, फिर वह सातवें आसमान वाला हो, पत्थर का हो, हाड़-मांस का हो, ख्याली हो, या जो भी हो।

थकती देह नहीं थकता है मन। हम ताँगे में एक घण्टे में थक जाते हैं, रेल मे बीस-पच्चीस घण्टे मे थकते हैं, जहाज में हफ्ते-दो हफ्ते लग जाते हैं। हमारा मन कहता है कि हमको तपेदिक हो गया है। हम डाक्टर के पास जाते हैं। वह कहता है कि टिक नहीं है। हम अच्छे हो जाते हैं। थके मन को विश्वास का डाक्टर ही अच्छा करेगा। जो यह कहता है—मैं नहीं पढ़ सकता, माता की भी यही राय है, भाई-बन्धु भी ऐसा ही मानते है, उस्ताद भी हार चुके हैं, उसको विश्वास का अध्यापक ही पढ़ा सकेगा। और कोई नहीं।

हे थके-मनो, तुमको जिन्दगी मिली है। ताक़त का भरा बक्स मिला है। उसमे वहम का ताला न लगाओ और अगर लगा ही बैठे हो तो विश्वास की कुंजी से खोल लो। सारी ताक़तें निकल पड़ेंगी और जिस काम के लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, वह काम भी हो जायगा।

४ ढकेमन—कुछ ऐसे भी हैं, जिनका मन निराशाओं से इतना ढक गया है कि उनको मन के होने में भी सन्देह होने लगता है। न अब कोई उनका दोस्त है और न रिश्तेदार। प्यार, मुहब्बत, मित्रता उनके लिए कितनी ही जरूरी क्यों न हो, उनमे दम नहीं डाल सकतीं, मन का परदा वे हटा नहीं सकतीं। हमारे घरो की शान सिर्फ़ प्रेम, प्यार से बनी हुई है, ऐसा समझना भूल है। प्रेम को भी आधार चाहिए। निराधार प्रेम घर की शान को कायम नहीं रख सकता। क्यो, कभी घर की एक बुढ़िया के मर जाने पर

र का हाल बेहाल हो जाता है? क्यो सबका प्रेम वैर का रूप ले बैठता है? बात साफ है। जिस पर सबको विश्वास था, वह चल बसी। उसी विश्वास के आधार पर तो प्रेम नये-नये नाच दिखाया करता था। सहारा निकलने से वह धर्म से गिर गया और खुश रहने वाला नाच खत्म हो गया। आपसी मेल-मिलाप की जड है ही विश्वास। सेवा-भक्ति तो विश्वास की दासियाँ हैं। प्यार-मुहब्बत उसी के नचाये नाचते हैं। यह सब विश्वास की ही लीला है।

उदासी के किले को तोडने में आमतौर से प्रेम का हाथ पाया जाता है, पर बात वैसी है नहीं। स्फूर्ति के प्रकाश में भी उसका कोई भाग नहीं होता, पर माना जाता है। सफलता की जड में सदा रहने वाला विश्वास ही है, जो रोमांच, गठ-बन्धन, गृहस्थ-जीवन और दोस्ती को सफल बनाता है। कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका को प्यार कर आनन्द नहीं पा सकता, अगर उसको उस पर विश्वास न हो। परमेश्वर प्रेम की नाव जो भवसागर से लोगों को पार उतार देती है, विश्वास धातु से बनी हुई है। उस सागर में उस धातु के सिवाय कोई चीज तरती नहीं। वाल्मीकि के राम जब सीता का प्रेमालिंगन करते थे तब दो देह नहीं मिलती थीं, दो आत्माएँ भेंट करती थीं। और राम पर उस समय एक रौब छा जाता था, जो उस प्रेम को धर्म में बदल देता था। राम के मन ने कभी एक क्षण के लिए भी सीता पर अविश्वास नहीं किया। सीता-राम की प्रेम की घटनाओं को तराजू में तोलना, उन दोनों के साथ अन्याय करना है। सीता को सीता की राय में, राम पर राम से हजार गुना विश्वास था। राम को राम की राय में, सीता पर सीता से हजार गुना विश्वास था। अपने-अपने विश्वास की सीमा ही नहीं, वह नापा-तोला नहीं जा सकता।

जिस पर मैं विश्वास करता हूँ वह मेरा पूरक होता है। उसके बिना मै अधूरा। मैं समाज पर विश्वास कर 'मैं' नहीं रह जाता। 'हम' बन जाता हूँ। हिन्दुस्तानी भले ही अकेला घूमता हो, पर एक रूसी, अंग्रेज, और अमेरिका वासी सदा अपने साथ सारे रूस, बरतानिया और अमेरिका

को लेकर घूमता है। वह समाज विश्वास के बल पर 'मैं' नहीं 'हम' बन गया है। गुरु गोविन्दसिंह का एक शिष्य यूँ ही तो सवा लाख की ताकत रखता माना जाता था।

विश्वास के बिना आदमी अकेला पड़ जाता है। अकेले मे स्वार्थ फूलने फलने लगता है। स्वार्थी को छिपकर खाने-पीने और रहने सहने में ही सुख मिलने लगता है। सुख सामाजिक गुण है, यह अकेला रहकर अपने को भोगने वाले को काटने लगता है। यूँ स्वार्थी का सुख, दुःख बन जाता है और अलग-अलग रहकर उसकी दुनिया अलग हो जाती है। उसकी दुनिया सिकुड़ने लगती है और दुनिया के सिकुड़ने से उसका मन, आत्मा भी सिकुड़ जाते है। उसके मन का परदा यूँ काला और भी काला होता जाता है। 'राम के विश्वासी के मन में राम आ विराजता है' सन्तों की यह कहावत ठीक ही है। राम को छोडो, तुम किसी जीवित आदमी पर विश्वास करके देखो। उसका बल तुम में आ जायगा, तुम अपने को कहीं बलवान जंचने लगोगे। अन्धविश्वासी पुलिस का सिपाही जब अपने मे सौ की ताकत अनुभव करने लगता है और सौ की भीड़ में घुस जाता है, तब सच्चा विश्वासी क्यो न सौ की ताकत अपने मे अनुभव करने लगेगा और क्यों न हजार की भीड़ मे बेधड़क घुस सकेगा ? विश्वास के इस चमत्कार को मान लेने मे दिक्कत कहाँ है ?

मन को ढक, प्रेम के भूखो, प्रेम का टूक मॉगते रहो, मिलना नहीं। तुमको न कोई प्यार करेगा, और न कोई दोस्त बनायेगा। विश्वास को जगाओ, उसे कहीं तो जमाओ, और फिर देखो, कितने प्यार करनेवाले मिलते है ! दुनिया है और रहेगी, क्योंकि उसमें विश्वास करनेवाले हैं। राम भी रहेगा। दुखी न होओ, अलग-अलग न रहो। निकम्मे न बनो। विश्वासी बनकर सुखी बनो, समाज मे चमको और अपनी ताकत का चमत्कार दिखाओ। विश्वास के बिना तुम्हारे ढके मन को कोई उपकार न उभार सकेगा।

५. घबराये मन—यह करूँ या वह ? दुविधा ! इसका इलाज ? सच्चा

विश्वास। तुम्हारा मन हिल रहा है। उसे चाहिए टेक—सहारा। उसका सहारा मत लेना, जिस पर तुम्हें विश्वास न हो। विश्वास खरे सोने की तरह आग में डाला जा सकता है, पर चमक नहीं खो सकता। विश्वास के बल पर सहारा किसी का भी लो, धोखा न होगा।

इस मत-पन्थ की दुनिया में विश्वास की छीछालेदर से घबराओ नहीं। इस कीचड़ से उगो, उठो और कमल की तरह खिलो। गन्ध फैलाओ, लोगों को लुभाओ। विश्वास के बल पर यह सब कुछ हो सकेगा। मत-पन्थ छोटी चीज है, धर्म नहीं। सचाई और भलाई की प्यास को धर्म कहते हैं, उसके प्यासे को धर्मात्मा। महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद इनका धर्म था, और वह एक था। वे सचाई और भलाई के प्यासे थे। उन्हें अपनी प्यास बुझाने में विश्वास था और वह बुझी भी। शुरू में उनके मन भी तुम्हारी तरह घबराये हुए थे और बे-सहारा थर-थर काँपते थे; पर विश्वास ने उनका सन्तुलन कर दिया और उनको दृढ़ बना दिया।

विश्वास का काम है मन का सन्तुलन। मन-सन्तुलन की यह अकेली दवा है। विश्वास डिगा और मन में कँप-कँपी पैदा हुई। हिलते-मन का नाम ही नास्तिक है, हिलता-मन और घबराया मन एक बात। घबराहट नरक नहीं तो और क्या है? ऐसा नास्तिक नरक में पड़ता है। इस नरक से निकलना, यानी मन की घबराहट दूर करना कोरी बुद्धि का काम नहीं। उसकी मदद के लिए चाहिए विश्वास। वह पास नहीं तो बुद्धि घबराहट घटाने की जगह बढ़ायेगी ही।

असल में घबराहट है क्या? यही कि सच सच है या झूठ सच? झूठ फल-फूल रहा है, यों सच लगता है। सब भले यह कहते हैं कि सच फल-फूल रहा है, इसमें सच सच है। अब किस को अपनाया जाय? कोई माने या न माने, जब सबका विश्वास हो रहा है तब दुनिया भी आगे बढ़ रही है। संत कोई ऐसा काम नहीं कर सकते थे, जो दुनिया को बढ़ने से रोके। उनके काम से दुनिया आगे बढ़ी, रुकी नहीं और पीछे भी नहीं हटी। उन्होंने सचाई और भलाई को अपनाया। अब यह साफ है कि सचाई और

भलाई ही आगे बढ़ाने वाली चीजें हैं। हमें उन्हीं पर विश्वास कर दुविधा मिटानी चाहिए और घबराहट दूर करनी चाहिए।

सच्चा-विश्वास

दुनिया मे रोगों का इलाज झाड-फूँक बहुत पहले से है। दवाएँ तो बाद मे आईं। दवाएँ ज्ञान की उपज मानी जाती हैं और झाड़-फूँक की बुनियाद अज्ञान है, ऐसी लोगों की मान्यता है। झाड़-फूँक आज भी है और खूब है, पर उसका नाम लोगों ने मेस्मरेजम रख छोड़ा है। मेस्मर के नाम पर पड़ा नाम वैज्ञानिक दुनिया में क़द्र की नजर से देखा जाता है। कहने का मतलब यह कि आज भी रोगों का इलाज बिना दवा-दारू के सिर्फ़ मन के ज़रिये विश्वास पैदा कर किया जा रहा है। और बहुत अंशों मे सफल भी हो रहा है। झाड़-फूँक आज भले ही अनपढ़ लोगों के हाथ में हो, पर उसके जन्मदाता ऋषि-मुनि थे और वह कितने ज्ञानी-विज्ञानी थे· यह वेद, उपनिषद्, तत्त्वार्थ सूत्र, अञ्जाल, कुरान बता रहे हैं। इन बडी किताबों के लिखने वाले खुद बड़े विश्वासी थे और लोग उनपर पूरा-पूरा विश्वास करते थे। न बीमारो को दवा की जरूरत थी और न डाक्टर दवा रखते थे। विश्वास के आधार पर हट्टी-कट्टी देह लिये वे जंगल मे शहर की तरह रहते थे और शहरो में जंगल का आनन्द हासिल कर लेते थे।

सच्चे विश्वास के जो चमत्कार अब तक बताये गए हैं उनको देखते हुए यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि हमको देह के स्वास्थ्य से कहीं ज़्यादा मन के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने की ज़रूरत है। स्वस्थ मन में ही सच्चा विश्वास जागता और फलता-फूलता है। जो निराश-मन को आशा का आश्वासन दे, जो कुछ नहीं हो सकते वह सब-कुछ हो सकने में बदल दे, जो सोई ताकत को जगाकर काम में लगा दे, जो दम-घुटते मन के नाक-मुँह खोल दे, जो ढिलमिल यकीन के यकीन को सीधा खड़ाकर मुस्तैद बना दे, और जो मरे-मन में फिर से जान फूँक दे वह विश्वास क्या जिस्म को बीमार रहने दे सकता है? क्या तुमने इम्तहान का नतीजा सुन-कर लोगों के बुखार उतरते नहीं सुने देखे? क्या तुमने दिक के मरीज़ो के

ले फेफड़े सच्चे हकीम के एक फ़िक़रे 'तुम्हें कोई मर्ज नहीं है'- सुनकर अच्छे होते नहीं सुने देखे ! क्या अंधी माँओं को अपने वर्षों से खोए बेटे को फिर पाकर अपनी आँखों में फिर से रोशनी पाते नहीं सुना देखा ! अगर हाँ, तो फिर विश्वास पर शक करने की कहाँ जगह है ?

दवाएँ ज़िन्दा रहें, विश्वास उन्हें रोकता नहीं, और न उसकी मौत की माला फेरता है। वह ऐसे विचारों से परे है। दवाएँ पैदा होते ही हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गई हैं और बे-मतलब उसकी दुश्मन बन बैठी हैं। इससे विश्वास का कुछ न बिगड़कर उनका ही नुक़सान हुआ। अगर वे मिलकर काम करतीं तो आज कहीं-की कहीं पहुँच गई होतीं। दवाएँ विश्वास का मूल्य जानती हैं और खूब जानती हैं, पर डाह उस जानकारी को बाहर नहीं आने देता। दवाएँ यह नहीं जानतीं कि उनकी पहुँच देह से आगे नहीं है और आदमी केवल देह का बना हुआ नहीं है। इलाज के लिहाज से उसे केवल मन का बना हुआ तो कह भी सकते हैं, क्योंकि स्वस्थ मन फोड़े-फुन्सी और खुजली-चोट तक को ठीक कर लेता है; पर सिर्फ़ देह का बना हुआ नहीं कह सकते। मन की पहुँच सब जगह है—इससे दवाओं का इनकार नहीं होना चाहिए। दवाएँ विश्वास का नाटक खेलने के लिए अमीर बीमार के सामने सोने-चाँदी के ज़ेवर और जवाहरात के गहने पहनकर आती हैं, पर नक़ल नक़ल ही है। दवाएँ असल को नहीं पहुँच सकतीं। नाटक न खेलकर उससे सहयोग की भीख माँगतीं, तो उन्हें मिल भी जाती और वे भिखारी बनकर भी राजा से कहीं अधिक आदर पातीं। और मनुष्य समाज का, जिसके लिए उन्होंने अवतार लिया था, कहीं अधिक भला कर जातीं।

बड़े-बड़े दवापति अब विश्वास का लोहा मान गये हैं और खुले कहने लगे है कि १०० मे से ५० असाध्य मरीज़ों का मरज़ और १०० में से ७५ रोग से उठे कमज़ोरों की कमज़ोरी देह में न रहकर मन में रहती है और उनके इलाज दवा से न होकर, विश्वास की मदद से होने चाहिएँ। होड़ का युग गया, सहयोग का युग है। दवाओ, यदि तुम अपना भला चाहती हो तो मिलकर कार्य करो। अगर तुम हो तो विश्वास के बिना बेजान हो,

यदि तुम सागर हो तो उसके बिना वे-लहरो की हो, यदि तुम मकान हो तो उसके बिना वे-दीवार की हो। तुम जड़ हो क्या इसीलिए जड़ी चाहती हो? जड़ का युग हो चुका। अब जड़-चेतन के सहयोग का युग है।

समझदार बीमार कभी खुद भी तय नहीं कर पाता कि बीमारी की जड़ है कहाँ? मन में या देह मे। कभी वह मन को और कभी तन को दोषी मानता है। तबीयत उचाट है, मन अशान्त है, भजन-पूजन में जी नहीं लगता? शायद मन खराब होगा। पर यह हालत तो गरदन की गले की गाँठ (Thyroid gland) खराब होने से भी हो सकती है। कुछ समझदार बीमार अपनी देह की बीमारी को मन के माथे थोपते हैं। मन खराब हो जाने से भी देह अस्वस्थ हो जाती है। डाक्टरों ने बड़ी जाँच के बाद यह साबित कर दिया है कि पेट का फोड़ा १०० में से ६० बीमारों के पेट मे न होकर मन में शुरू होता है। गहरी चिन्ता आमतौर से उसका सबब होती है।

कुछ आदमी ऐसे मिलेंगे जिनको गन्दी चीज देखकर उछाल आ जाता है। उछाल पहले मन को आया, पीछे पेट को। मन थक जाने पर ताजा देह भी थकान मानने लगती है। बहुत खुशी में और बहुत रंज मे भूख कम हो जाती है। आये-दिन की डाक्टरों की खोज यह बताती है कि बीमारियाँ सब-की-सब न भी हों, पर ज़्यादा तो ऐसी होती हैं कि जिनमे देह का कोई कसूर नहीं होता।

एक अँग्रेज लेखक ने तो आजकल के विशेषज्ञों का खूब मजाक उड़ाया है और वह बिलकुल ठीक कहता मालूम होता है, भला यह भी कोई बात है नाक के डाक्टर, कान के डाक्टर, दाँत के डाक्टर, आँख के डाक्टर और फिर आएँगे अँगूठे के डाक्टर, बीच की उँगली के डाक्टर, कटी उँगली के डाक्टर और एक-एक थैली (Cell) के डाक्टर। यहाँ देह और मन के एक साथ इलाज की बात सोची जा रही है, वे देह के भी टुकड़े कर डाल रहे हैं! दवाएँ उतरी थीं मैदान में यह दावा लेकर कि बीमार के रोग को अच्छा कर हम समूचे आदमी को अच्छा बना देंगी, पर अब तो वे एक

अंग को अच्छा कर बीमारी दूसरी ओर डाल देती हैं। कुनेन बुखार खोकर बेहाल बनाएगी, अफीम का इनजेक्शन दर्द मिटाकर सारी देह को कमजोर करेगा। दवाएँ एक और नया नाटक खेल रही हैं। वे होम्योपैथी का जामा पहनकर डर के बुखार को, चोट के बुखार को और गुस्से के बुखार को भी मानने लगी हैं। और फिर वे बुखार का इलाज न कर डर, चोट और गुस्से का इलाज करती हैं। दवाएँ हैं, अधूरा है इनका विश्वास। जो १०० वर्ष जीना चाहे, जो सौ वर्ष तक अपने रूप-रंग सही हालत में रखना चाहे, वह अपने मन को इतना मजबूत बनाए कि मालिक बन बैठे डर का, फिक्र का, रंज का, गुस्से का, शर्म का, कुसूर का, घमंड का और सबसे ज्यादा काम का।

जीवन-राज्य का अधिपति कोई हो, प्रधान-मन्त्री विश्वास को बनाये बिना यह राज्य ठीक चलता नहीं। डाक्टर, मन्त्री की सलाह के बिना राज्य के कामों में सीधा दखल न दे। अब जब यह मान लिया गया है कि तपेदिक के कीड़े सभी में मौजूद हैं और यह कि वे अकेले ही दिक की बीमारी पैदा नहीं करते, बल्कि मानसिक व्यथाएँ इनमें एक जरूरी कारण हुआ करती हैं, तब विश्वास और दवा के मिलकर काम करने में क्या दिक्कत हो सकती है और दवाओं को क्यों इन्कार हो सकता है? निमोनिया और दमे के बारे में भी मन का बहुत हाथ माना जाने लगा है! मतलब यह कि अब विश्वास को ऊँचा स्थान दिये बिना जीवन-राज्य का इन्तजाम ठीक न हो सकेगा।

विश्वास, बेशक सच्चा-विश्वास देह को स्वस्थ रखने के लिए जरूरी है और बिलकुल काफी है।

अन्ध-विश्वास

विश्वास बहुत बड़ी चीज है। इसकी पहुँच बहुत दूर तक है। आज-कल के छः बड़े-बड़े धर्म और अनेकों छोटे-छोटे धर्म विश्वास के पेट में गिना सकते हैं। धर्म और विश्वास हैं तो एक चीज, पर आजकल धर्म का जो मतलब किया जाता है उससे यही कहना पड़ता है कि हरेक धर्म एक विशेष-

विश्वास है और यह विशेष-विश्वास वाला धर्म पैदा होते ही हम सब के साथ लग लेता है। औरो की नजरों मे हम उसी विशेष-विश्वास के विश्वासी माने जाते हैं; पर वैसा होता नहीं है। हमारा पैदायशी-विश्वास कुछ और, हमारा कमाया हुआ विश्वास कुछ और ही होता है। नतीजा यह कि हम अपने कामों से उसके विश्वास के विश्वासी नहीं जँचते, जिसको हम लोगों के सामने अपना होने का दावा करने के अभ्यस्त हो गये है। अपने को हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, सिख कह बैठना इतनी मामूली बात हो गई है जैसे कोई भी गीदड़-जैसा डरपोक, अपना नाम होने की वजह से, अपने को बहादुर सिंह बता बैठता है। नाम की तरह से आज का धर्म भी कुछ अर्थ नहीं रखता। कोई अपने को मुसलमान कहकर यह हरगिज नहीं कहता कि वह सबको, खुदा के बन्दे होने के नाते, भाई समझता है और यह कि वह बडा अमन-पसन्द है। जैन कहकर कोई यह नहीं कहना चाहता कि उसने अपने मन को जीत लिया है और ईसाई कहकर तो शायद यही कहना चाहता है कि उसने प्रेम को कुचल डाला है और वह ईसाइयों तक को तलवार के घाट उतार सकता है! फिर औरों की तो बात ही क्या ?

विशेष-विश्वास यानी धर्म बपौती मे तो मिलता ही है, दोस्तों से उधार भी माँगा जा सकता है। और सबसे आसान तरीका यह है कि आप कह भी दीजिये कि हम अमुक धर्म के विश्वासी हैं और आप उस धर्म के हो गए। इस तरह पाये हुए विश्वास दुनियादारी में बड़े काम के साबित होते हैं, पर कभी-कभी तो वे निरा बोझा बन बैठते है और वह इतना भारी कि जिसके नीचे दब मरने का डर रहता है। हो सकता है कि किसी को क़िस्मत से अच्छे रिश्तेदार मिल जावें और उसकी जिन्दगी कुछ सुखी हो जाय, पर धर्म तो आजकल सदा ही ऐसा मिलता है जो उसकी जान को कष्ट मे डाल देता है, क्योंकि वह जिन्दगी के माने ही अजीब लगाता है। अच्छे-से-अच्छा और ऊँचे-से-ऊँचा धर्म भी हमारी जिन्दगी को निकम्मा और दुखी बना सकता है, क्योंकि हम जानदारों पर धर्मों का, लोगों का और विचारों का असर पड़ता है और हम कुछ-के-कुछ हो जाते हैं। पर धर्म तो बेजान

रेखाओं में अछूता ही रह जाता है और जो जितना ज्यादा अछूता है उतना ही वह अपने को बड़ा जोरदार मानता है।

सब धर्म कई-कई बच्चों वाले अंडे हैं और ऐसे अंडे जो फूटना नहीं चाहते। अंडों के अन्दर रहने वाला बच्चा बिना अंडा फोड़े न बाहर आ सकता है, न खुली हवा खा सकता है और न बड़ा होकर औरों की तरह अपना जीवन काम का बना सकता है। अंडा सिर्फ इसलिए होता है कि वह तोते को तोता और मैना को मैना बनने दे। उसके बाद उसे टूटना ही चाहिए; क्योंकि तोता और मैना का असली धर्म उसके अन्दर रहता है, जो उसे आगे चलकर राम-राम कहना या आदमी की तरह बोलना सिखाता है। एक धर्म में पैदा हुए सब आदमी एक काम नहीं करते, यानी एक धर्म का पालन नहीं करते; क्योंकि उनका एक विश्वास नहीं होता। एक विश्वास होना व्यक्तित्व की सुन्दरता को ही खो देना है। यह तो हरेक को अलग-अलग ही तय करना होगा कि वह कहाँ, क्यों, किसलिए पैदा हुआ है! हम एक आदमी के साथ दस वर्ष रहकर बिना बदले नहीं रह पाते, फिर जिन्दगी के साथ सौ वर्ष रहकर कैसे नहीं बदलेंगे? हमारी जिन्दगी तो उस दुनिया से घिरी हुई नहीं है, जिस दुनिया से हमारे उन बुजुर्गों की घिरी है, जिनकी किताब के आधार पर हमें किसी विशेष धर्म वाला होने का मौका मिला है। हम चाहें या न चाहें हम बदल रहे हैं। बदलना हमारी खासियत है। जीवन के बारे में यही और एक यही विश्वास अटल और अमर है कि हम बदल रहे हैं। हमारा मन और हमारी चारों ओर की दुनिया की सारी चीजें बदल रही हैं। शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। फिर शब्दों से बनी धर्म-पुस्तकें न बदलें तो उन्हें कोई खोलकर भी न पढ़े। शादी हो जाने पर बहन पत्नी बन जाती है और बधू बन जाने पर वही पत्नी माँ बन जाती है। धर्म-ग्रन्थ भी खूब बदलते हैं।

बदलना और बदले जाना दो अलग राग हैं: एक आजाद, दूसरा गुलाम! बदलने की गति बदले जाने से कहीं तेज होती है। विचार के बदले जाने पर अधिकार हो जाता है।

विश्वास से विश्वास तक पहुँचा जाता है। वहाँ पहुँचते ही अन्ध-विश्वास हिल जाते हैं। हालत कुछ-की-कुछ हो जाती है, जिनको हम सच्चे विश्वास माने बैठे थे वे थोथे जँचने लगते हैं। यह अवसर खोना नहीं चाहिए। बार-बार ऐसे अवसर नहीं आया करते, कर्मयोग का अवसर आदमी को सच्चा आदमी बनाने को मिलता है और कभी-कभी ही मिलता है।

हर साल लाखों इस दुनिया से कूच करते हैं। वे दुनिया को और उसमें रहने वालों को छोड जाते हैं। क्या तुम भी इसी तरह कूच करना चाहते हो? विश्वास के बिना तो यही होता है। विश्वास असल मे अन्ध-विश्वास के भोलेपन को समझ लेता है। अन्ध-विश्वास अपने भोलेपन के सच्चेपन से उन बातों को सिद्ध करने की तदबीर सोचा करता है, जो उसके मन पर बचपन में जम गई है या जमा दी गई है। इस बात की सचाई की जाँच अपने मन को टटोलने से तो हो ही सकती है, पर किसी दर्शन के साथ-साथ उस दर्शन के कर्ता की ज़िन्दगी पढ़ने से भी हो सकती है। दर्शन-कार की जीवनी ही न मिले तब मजबूरी। यो न दर्शन बढ़ रहा है, न दर्शनकार बढ़ रहे हैं। वह केवल मोटा होता जा रहा है और यो बेकार। विश्वास सिद्धान्त की चीज़ नहीं, वह हमारे रोज के कामों से जुडा हुआ है, हमारे मनोभावों के बाद किये कामों में उसकी जड़ है और वह सदा हमारे मनोभावों पर अपना प्रभाव डालता रहता है।

दर्शन बुद्धि की देन-सा जँचता है। असल मे वह, हमारा मन अन्दर किस तरह काम करता है, उसकी कहानी है। बौद्ध या जैन-दर्शन बुद्धिमानों ने लिखे हैं, बुद्ध और महावीर ने नहीं। वे दोनों तो उन दर्शनो मे जी रहे थे, वे दर्शन थे। उन्हे देखकर ही वे दर्शन जितनी जल्दी और जितने जल्द समझ में आते थे, वे आज उतनी ही देर मे और कहीं बुरी तरह सौ पण्डितो की मदद से गले मे ही आकर रह जाते है। दर्शन मोटे होते रहे। पण्डितो और प्रकाशकों का पेट भी भरते रहे। पर जब उन्होने किसी एक की या समाज के जीवन की बागडोर हाथ मे ली तब मामला भयानक हो गया। इस भयानक काम को सच्चा-विश्वास ही रोक सकता है। कितना ही

होशियार कहानी-लेखक क्यों न हो, वह एक कहानी खड़ी नहीं कर सकता, अगर उसे एक पात्र ऐसा न मिले जिसने अपनी जिन्दगी एक विश्वास के साथ न बिताई हो। कालिदास के विश्वास की खुराक पाकर एक साधारण घटना शकुन्तला नाटक बन बैठती है। रामायण में जितना तुलसी का विश्वास चमकता है उतनी राम की कथा नहीं।

सच्चे विश्वास के न होने से या उसके डिग जाने से बड़े बुरे नतीजे होते हैं। व्यक्ति की जिन्दगी तो मिट्टी में मिल जाती है। ऐसा क्यों होता है? इसके कारण आसानी से समझ में आ सकते हैं। विश्वास उठ जाने से हमारे वे सब अनुभव, जो विश्वास की हालत में हुए थे, बेकार हो जाते हैं। विश्वास से सम्बन्ध रखने वाला सारा क्षेत्र हमारे हाथों से निकल जाता है और वे शक्तियाँ भी बेकार हो जाती हैं, जो इसी की चलाई चलती थीं। हमारे दैहिक अनुभव यानी जड़-सम्बन्धी अनुभव तो नजर हो जाते हैं, पर आध्यात्मिक अनुभव सब-के-सब खो जाते हैं और हमारे लिए तो बेकार हो ही जाते हैं। जिसकी वजह से आदमी सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझा जाता है, वह चीजें अब उसकी दुनिया में कहीं ठीक ही नहीं बैठतीं।

जिन्दगी की तरफ से रुख बदलने से सब कुछ ही बदल जाता है। आदमी की कहानी, रुपये, ईंट या पोस्ट-कार्ड की कहानी जैसी बन जाती है। आदमी के अन्दर की सबसे अच्छी चीज का कहीं मेल ही नहीं बैठ पाता, आत्मा साथ देना भी चाहे तो नहीं दे सकता। जिन्दगी के दो टुकड़े हो जाते हैं और मन की क्या हालत होती है, उसे ठीक विश्वासी ही जानता है।

अविश्वासी समाज में जगह बनाने के लिए नीति की शरण लेना है। नीति धीरे-धीरे उसे पक्का जड़वादी बना देती है। जड़वादी होने पर भी बुद्धि के साथ साथ मनोभाव भी रह जाते हैं। अब मन दुविधा में पड़ जाता है। दुविधा है: क्या होना चाहिये? क्या है? आदमी को होना तो चाहिए 'देवता'; पर है वह 'पशु'। मानव-समाज कुटुम्ब की तरह होना

चाहिए, पर है वह साथियों का जत्था। जय होनी चाहिए नीति की, पर हो रही है मशीन की। (विज्ञान मे वह आदमी को मशीन ही तो पाता है) उसकी समझ मे जान नही है; पर वह खुद जानदार है। उसकी समझ में बुद्धि नहीं है, पर वह बुद्धिमान है। उसकी समझ में नीति नहीं है, पर वह नीतिमान है। बिना विश्वास के यह हालत होगी ही। अविश्वासी बनकर अपनी धुन मे अगर तुम किसी से टकरा गए और उसने पूछा कि 'तुम कौन हो ?' तो जवाब यही देना होगा, 'मैं कौन हूँ ? यह तो मैं भी नहीं जानता।'

विश्वास का चमत्कार

'मैं यह हूँ' की जानकारी का नाम ही विश्वास है। सब धर्मों, दर्शन-शास्त्रों की मंशा ही यही है कि 'मैं क्या हूँ' का हाल बताएँ। इस दृष्टि से ही दर्शन-शास्त्र दुनिया के अदब मे अपनी जगह बनाते है। मन को स्वस्थ बनाए रखने मे इसीलिए विश्वास अक्सीर माना जाता है। विश्वास हमें परिचय करा देता है। विश्वासहीन ही नास्तिक नाम पाता है। नास्तिक अनन्त आकाश में बिखरे जड परमाणुओं की खोज में लगकर अपनी आत्मा को ठण्डा कर डालता है। वह इस ओर भी ध्यान नहीं देता कि इन परमाणुओ का ज्ञान किसकी मदद से हो रहा है। कोई आदमी अपने को पहचाने बिना अपनी जिन्दगी से पूरा लाभ नहीं उठा सकता और न वह उस फ़र्ज को पूरा कर सकता है जिसके पूरा करने के लिए वह पैदा हुआ है।

आत्माभिमान बनाए रखने के लिए आदमी न मालूम क्या-क्या करता है, और उसे करना भी चाहिए। यह बुरी बात तो है ही नहीं, जरूरी है। अगर किसी आदमी को अपने बारे मे यह भी पता चले कि वह एक मामूली आत्मा है, तब भी उसके लिए ऊँचे विचारो में मस्त रहना जरूरी है। ऊँचे विचारों के बल पर ही तो वह अपने न-कुछ से बहुत-कुछ काम ले सकेगा। पत्थर मे जिस तरह अच्छी, बुरी, मामूली, तीनों तरह की मूर्ति मौजूद रहती हैं और वह अच्छे, बुरे, मामूली कलाकारों के हाथों जाहिर होती है. ठीक

इसी तरह हर आत्मा में अच्छे, बुरे, मामूली काम करने की काबलियत रहती है, पर वह अच्छे, बुरे, मामूली विश्वास में ही काम में आती है। जिससे जो कुछ हो जाता है उसको आत्मा ठीक बताकर अपनी तसल्ली करता है। उसकी जाँचने की कसौटी या तराजू वही होती है, जो परिस्थितियों ने उसे बनाकर देदी है। इसीलिए तो इस बात पर जोर दिया जा रहा कि विचारा हमेशा ऊँचे रखने चाहिएं। ऊँचे विचारों से परिस्थितियों का असर अगर बिल्कुल नष्ट नहीं होता तो कम तो हो ही जाता है।

इच्छाएँ सब में हैं और सब उनको पूरा भी करना चाहते हैं। ऊँचे विचार वाले और नीचे विचार वाले में एक ही इच्छा के पूरा करने में अन्तर रहेगा। मान लो, दोनों में लड्डू खाने की इच्छा पैदा हुई। यह भी मान लो कि दोनों के पास पैसा नहीं है। ऐसी हालत में नीचे विचार वाला चोरी कर अपनी इच्छा पूरी करेगा और दूसरा मजदूरी कर या साधारण आदमी है तो भीख माँग कर। भीख माँगना चोरी से नीच काम है या नहीं? इस बात पर दो राय हो सकती हैं; पर यह इस लेख का विषय न होने से छोडा जाता है। 'मैं कौन हूँ?' यह जानने की इच्छा भी इच्छा है और इसके जवाब भी अलग-अलग कई हो सकते हैं। हर जवाब में जवाब देने वाले के सारे दर्शन का निचोड रहेगा। वह जवाब ही विश्वास बनकर आगे की राह दिखाने में काम आएगा। आदमी के अल्लाह की शक्ल वाला बने होने में इतनी-सी सचाई है, जितनी कि खाक का पुतला होने में। आदमी पंचभूत का भी है और अजर-अमर आत्मा का भी। वह क्या नहीं है? परमात्मा और आत्मा भी। हम कहाँ तक ऊँचे जा सकते हैं, यह अभी तय नहीं हो पाया। आजकल ऊँचे जाने की हद नहीं। सच्चा फिर क्यों न विचार ऊँचे रक्खे और क्यों न अपनी इच्छाओं को उसी के मुताबिक पूरा किया करे?

अपने को तुच्छ मानकर ऊँचा जीवन बिताने में तुम टोटे में रहोगे। इस तरीके से तुम्हारी नाव किनारे न लग पावेगी, बीच में ही डगमगाकर भँवर में जा फँसेगी। धर्म या धर्मों में चाहे कितनी ही कमियाँ क्यों न हों, एक जबरदस्त गुण भी है और वह अकेला ही सब कमियों की ओर किसी की

नजर नहीं जाने देता। वह गुण है : यह आदमी अजर-अमर आत्मा है, मिट्टी का पुतला नहीं। मनुष्य खुदा का अंश है, हड्डी-चमड़े की मशीन नहीं। यह नहीं कि कुछ चीज मिलकर जिस्म वन गया और फिर उसमें मन का किल्ला फूट आया और फिर सारा साहस आने पर आदमी कहलाने लगा। धर्म आदमी की जड़ अनादि अनन्त मे जमा देता है और उसे सदा के लिए सुरक्षित कर देता है। धर्म आदमी मे परमात्मा होने का विश्वास करा देता है। सब बड़े-बड़े धर्मों के 'मैं क्या हूॅ' के जवाब सुनकर तबियत फड़क उठती है। तभी तो बचपन से ज्ञान में लगे आदमी वड़ी जल्दी धर्म को स्वीकार करते हैं। मेरी राय मे सब धर्मों का निचोड़ यही है कि विश्वास से आदमी वदला जा सकता है।

हम वही हैं जो अपने को माने हुए हैं। अवतार हमारी मान्यता को वदलकर हमें कुछ-का-कुछ वना देते है। जो विश्वास अवतार हम मे पैदा करते हैं क्या वह हम अपने आप अपने मे पैदा नहीं कर सकते ? क्यो नहीं कर सकते ? जरूर कर सकते हैं। कैसे ? दो तरीक़ों से; विवेक से और त्याग से। विश्वास के दो पहलू होने से ये दोनों एक ही हैं। कहने के लिए दो हैं। जीवन के तूफान मे डगमगाता आदमी अगर अपने पॉव जमाना चाहता है, तो ऑखें खुली रखे और उन्हीं गुणों को अपनाये जो आदमी के अपनाये जाने लायक हैं। उन्हीं उद्देश्यो की ओर दौड़े जिन तक पहुॅचकर उसकी आत्मा खुशी का भोजन पायेगी। अपना सबसे सच्चा, सबसे वलवान्, सबसे ज्ञानवान्, वही मिलेगा। आदमी को सम्पूर्ण वनाने के लिए विवेक के दिये को लेकर भले-बुरे गुणों की तमीज करनी ही होगी। उनमें से एक को पकड़-कर बैठना ही होगा। पकड़ते ही त्याग शुरू हो जायगा। सच को अपनाकर झूठ छोड़ना ही होगा। ऊॅचा डंडा पकडकर नीचे का छूट ही जायगा। चढ़ने का तरीक़ा ही यही है। 'हॉ हूॅ' का दूसरा पहलू 'नहीं हूॅ' है ही।

विवेक और त्याग न अपने-आप कभी पैदा हुए, न होते हैं और न होंगे। वे खासियतें अलग कहीं मिलती ही नहीं। ये तो विश्वास के पाने-वाले की शक्ल में ही मिलती हैं। किसी में विश्वास किये विना ये दोनों

तुम्हारे हाथ न लगेंगी। विश्वास के बिना तुम ऐसे गिरोगे कि हज़ारों घोड़ों की ताक़तवाला लोहे का घोड़ा भी तुम्हें न उठा सकेगा।

मरते आये हो, मर रहे हो, मरते रहोगे, यह सिलसिला तो न रुकेगा। हाँ, कुत्तों की मौत मरना रुक सकता है और वह विश्वास से।

मानना शुरू कर दो कि तुम हो, आज़ाद हो, जो और कर रहे हैं वह कर सकते हो, और ज़्यादा भी कर सकते हो।



: २ :

सच्चे सुख का सार

आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम—हस्तिनापुर) का सर्वेसर्वा होने पर भी, अनेक बन्धनों में जकड़े होने से मुझे अपनी जान से प्यारे ब्रह्मचारियों को वह सिखाना पड़ता था और सीखने देने पडता था, जिसे मैं जी से नहीं चाहता था। मेरे अध्यापको में एक से ज्यादा ऐसे थे, जिन्हें मेरी तरह उसके सिखाने मे दुःख होता था जिसे वे ठीक नहीं समझते थे। उस तकलीफ़ ने समाज-सेवा के सम्बन्ध में मेरे मन मे एक जबरदस्त क्रान्ति पैदा कर दी और मुझे साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा कि समाज-सेवा और समाज-दासत्व दो अलग-अलग चीजें हैं। समाज-सेवा से समाज ऊँचा उठता है और समाज दासत्व से समाज पतन होता है। आत्म-विकास, आत्म-प्रकाश, मौलिकता और नवसर्जन से समाज-सेवा होती है। लीक-लीक चलने से समाज की दासता हो सकती है, सेवा नहीं! व्यक्ति के सुख मे ही समाज का सुख है, समाज के सुख मे व्यक्ति का सुख नही और समाज का भी नहीं। आज जिस सुख को सुख मानकर समाज सुखी हो रहा है, वह सुख नहीं, सुखाभास है, सुख की छाया है, झूठा सुख है। सुख क्या है? वह कैसे मिलेगा? समाज सुखी कैसे होगा? यह जान लेना ही समाज-सेवा है। इसलिए उसी पर कुछ कह-सुन लूँ और इस नाते लिखकर भी थोड़ी समाज-सेवा कर लूँ।

खेती-युग में दुख रहा तो रहा, मशीन-युग में क्यों? खाने के लिए बिस्कुट के कारखाने, पहनने के लिए कपड़े की मिलें, सैर-सपाटे के लिए

मोटर-रेलें, हवाई जहाज, बीमारी से बचने के लिए पेटेंट दवाएँ, बूढ़े से जवान बनने के लिए ग्लैंड-चिकित्सा, कानों के लिए रेडियो, आँखों के लिए सिनेमा, नाक के लिए सस्ते सेंट, जीभ के लिए चाक्लेट, लाइमजूस, क्रीम, देह के लिए मुलायम गद्दे, यहाँ तक कि मन के लिए भी किसी बात का टोटा नहीं—गुदगुदाने वाली कहानियाँ, हँसाने वाले निबन्ध, अचरज में डालने वाली जासूसी कहानियाँ, रुलाने वाले उपन्यास, उभारने वाली वक्तृताएँ, सभी-कुछ तो है।

रुपया?—

रुपये का क्या टोटा! उन्तीस रुपये कुछ आने में एक लाख के रुपये वाले नोट तैयार हो जाते हैं और वे उन्तीस रुपये भी कागज के हों तो काम चल सकता है। सरकार बाजीगर की तरह घर-घर में अगर चाहे तो रुपयों का ढेर लगा सकती है। बाजीगर की हाथ की सफाई से सरकार की सफाई कई गुनी बढ़ी-चढ़ी है।

मतलब यह कि यह युग खपत से कहीं ज्यादा पैदावार का युग है, सुख की बाढ़ का युग है, चीजों की भरमार का युग है, जी दुखाने का नहीं, आँसू बहाने का नहीं, रोने-चिल्लाने का नहीं।

हैं! फिर यह कौन रोता है? क्यों रोता है? कैसे रोता है? रोने का नाटक तो नहीं करता! अगर सचमुच रोता है तो निरकुट, कपड़े और रुपयों की बाढ़ में डूबकर दम घुटने से ही रोता होगा!

सुख मोटा होकर ही काम का हो सके, यह नहीं। वह बढ़िया भी होना चाहिए। हलवा गालियों के साथ मीठा नहीं लगता। मुफ्त में पाये ओवरकोट से जाड़ा नहीं जाता, चे-पैसे की सवारी में मजा नहीं आता। सुख का सुख भोगने की ताकत विदेशी राज्य ने रगड़ दी, विदेशी व्यापार ने पकड़ ली, विदेशी तालीम ने जकड़ दी, विदेशी वेश-भूषा से लजा गई और विदेशी बोली से मुरझा गई।

खाने में लुत्फ़ बनाने के तरीक़ों पर निर्भर है, कपड़े की खूबसूरती उसके काट में है, आमदनी का सुख इसमें है कि वह कैसे कमाई गई है।

पाँच बार खाकर, घंटे-घंटे के बाद कपड़े बदल कर, कई कमरेवाले मकान मे रहकर सुख नहीं मिलता। सुख के लिए ऐसा काम चाहिए, जिसके द्वारा मैं यह बता सकूँ कि मैं क्या हूँ? जिनके लिए काम करूँ, वे माँ बाप, वे सम्बन्धी भी चाहिएँ। मेरी मरजी की तालीम न मिली तो सब सुख बेकार, मेरी मरजी का समाज न मिला तो सब सुख भार।

इस बाढ़-युग के मुकाबिले मे पहले युग का नाम आप सूखा-युग रख लीजिए; पर उस युग में ये सब चीजें मिल जाती थीं। आजकल कारखाने चीजें बनाने मे जुटे हैं, सरकार परमाणु-बम बनाने मे। सुख उपजाने की किसी को फुरसत नहीं। चीजों की भरमार से और एटम-बम की दहाड़ से सुख की परछाईं देखने को मिलेगी, सुख नहीं।

हलवाई की तबीयत मिठाई से ऊब जाती है यानी उसे सुख की जगह दुख देने लगती है। रेल का गार्ड रेल सवारी को आफ़त समझता है। खपत से उपज कुछ कम हो तो सुख मिले। खपत की बराबर हो तो हरज नहीं; पर खपत से ज़्यादा हो तो दुख ही होगा।

डाक-बाबू को यह पता नहीं कि उसके कितने बच्चे हैं; जहाज के कप्तान को यह पता नहीं कि उसके माँ-बाप भी हैं और उसका विवाह भी हो गया है; जुलाहे को पता नहीं कि वह तरह-तरह के बेल-बूटे बना सकता है। सुख जिसका नाम है वह कहीं रह ही नहीं गया। खाओ-पहनो-दौड़ो! सुख से कोई सरोकार नहीं। फटफटिया की फट-फट, धुँआ-गाडी की झक-झक, हवाई जहाजों की खर-खर, मिलों की घर-घर। बाहर चैन कहाँ! पंखे की सर-सर, टाइपराइटर की क्लिक-क्लिक, स्टोव की शूं-शूं, रेडियो की रूँ-रूँ। घर मे आराम कहाँ! छब्बे होने चले थे, दुब्बे रह गए। सुख की खोज में गाँठ का सुख भी गँवा बैठे। वह मिलेगा, इसमे शक है।

सुख लोगों को आजकल कभी मिलता नहीं। इसलिए वे उसे भूल गये, अगर वह आये तो उसे पहचान भी नहीं सकते। भीतर का सुख और बाहर का सुख दोनों ही भूल गए।

सुख उस हालत का नाम है, जिसमें हम आज़ाद हों, कोई हमें हमारी मरजी के खिलाफ़ न सताये, न भूखों मारे, न जाड़ा-गरमी सहने को कहे। इतना ही नहीं, हमारी मरजी के खिलाफ़ न हमें खिलाये, न पहनाए और न सैर कराए। सुख बीच की अवस्था में है, खींचतान में नहीं। मरजी से किये सब कामों में सुख है—बरफ़ में गलने में, आग में जलने में, डूबने और ऊबने में भी। बेगार की मेहनत में भी सुख नहीं। लगन और उद्देश्य बिना किसी काम में सुख नहीं। सुख एक हालत तो है, पर है वह तन-मन-मस्तक तीनों की। भूखों मरकर सुख न मिलेगा और पाषाण हृदय होकर भी नहीं। पेट-भरी बकरी भेड़िये के पास बाँधने से दुबली हो जाती है तो राम-भजन करने वाला सन्त भी भूखा रहकर दुबला हो जायगा।

सुख की पहेली का एक ही हल है। धर्म से कमाए और मौज करे (धर्म-अर्थ-काम)। धर्म से कमाने का अर्थ है ज़रूरत के अनुसार पैदा करना। कमाने में मौज करने की योग्यता गँवा बैठना बुद्धिमानी नहीं है। इतना थकने से फ़ायदा कि खा भी न सको ? थककर भूखे सो जाओ ! पैसे से बेचनी तो देह भी नहीं चाहिए, पर यहाँ तो मन और मस्तक बिक रहे हैं। तन-मन और मस्तक सभी बिक गए तो सुख कौन भोगेगा ?

बिको मत, बिकना गुलामी है। गुलामी में मज़ा कहाँ ? दुःख में मीठा कड़वा हो जाता है। कपड़ा देह का भार हो जाता है। तमाशा काटने को दौड़ता है। सवारी खींचती नहीं, घसीटती-सी मालूम होती है।

बना-बनाया खाने में खाने-भर का मज़ा। बनाकर खाने में दो मज़े—एक बनाने का दूसरा खाने का। मिलों में चीज़ें बनती हैं, तुम्हारे लिए नहीं बनतीं। घर में चीज़ें बनती हैं, वे तुम्हारे लिए बनती हैं। तुम्हारी रुचि का ध्यान रखकर बनाई जाती है। तुम्हारे स्वास्थ्य का भी ध्यान रखा जाता है। अपनी चीज़ अपने-आप बनी कुछ और ही होती है।

सभी तो बनी-बनाई काम में ला रहे हैं ?

लाने दो, वे पास खड़े सुख को पहचानते ही नहीं। सुख पाएँ कैसे ? तुम पहचान गए हो, अपनाओ। उसके अपनाने से सोना, स्वास्थ्य, सुख

तीनों हाथ आयेंगे। सुख से सुख और उस सुख मे और सुख मिलेगा। सुख तुम मे से फूटकर निकलने लगेगा। धीरे-धीरे सब तुम्हारे रास्ते पर आ जायँगे। उन्होने अब तक सुख देखा ही नहीं, अब देखने को मिलेगा तो फिर क्यो न अपनायेंगे?

श्रम मे सुख है, मेहनत में मौज है। श्रम बिका सुख गया। मेहनत बिकी मौज गई। पैसा आया, वह न खाया जाता है, न पहना जाता है। चीजे मोल लेते फिरो, भागे-भागे फिरो—जमीदार के पास, बजाज के पास बनिये के पास, सिनेमाघरों में, स्कूलो में। लो, खराब चीजें और दो दुगुने दाम। कभी सस्ता रोता था बार-बार, आज अकरा रोता है हजार बार।

सुख चाहते हो तो बडा न सही, छोटा-सा घर बनाओ। चरखा खरीदो, चाहे महंगा ही मिले। करघा लगाओ, चाहे घर की छोटी-सी कोठरी भी घिर जाय। जरूरी औजार खरीदो, चाहे एक दिन भूखा मरना पड़े। खेत जोतो-बोओ, चाहे खून-पसीना एक हो जाय। गाय, घोड़ा रखो, चाहे रात को नींद न ले सको।

बिक्री की चीज न बनो। बिगड़ जाओगे। अगर बिकना ही है तो काम की उपज को बिको। सुख पाओगे।

खाने भर के लिए पैदा करो। थोडा ज्यादा हो जाय तो उसके बदले में उन्हीं चीजों को लो, जो सचमुच तुम्हारे लिए जरूरी हैं और जिन्हें तुम पैदा करना नहीं जानते।

कमाना और बेचना, कमाना और गँवाना है। कमाना और खाना, कमाना और सुख पाना है।

काम के लिए काम करने में सुख कहाँ? अपनों के लिए और अपने लिए काम करने मे सुख है। सुख की चीजें बनाने मे सुख नहीं, अपने सुख की चीजें बनाने मे सुख है। जब भी तुम पैसो से अपने को बेचते हो, अपनी भलमनसियत को भी साथ बेच देते हो। उसी के साथ सच्ची-भली जिन्दगी भी चली जाती है। मन और मस्तक सब बिक जाते है। तुम न

कोगे, ये सब भी न बिकेंगे। भलमनसी की बुनियादी ज़रूरतें यानी कुटिया, मौन, चरखा, करघा, वग़ैरह बनी रहेंगी तो तुम बने रहोगे और सुख भी ते रहोगे। सुख भलों के पास ही रहता है, बुरों के पास नहीं। जो बुरों के पास है वह सुख नहीं है, सुख की छाया है।

गाडी में जुतकर बैल घास-दाना पा सकता है, कुछ मोटा भी हो सकता है, सुखी नहीं हो सकता। सुखी होने के लिए उसे घास-दाना जुटाना पडेगा, यानी निर्द्वन्द्व होकर जंगल में फिरकर घास खाना होगा। तुम पैसा कमाकर रोटी-कपडा जुटा लो, सुख-सन्तोष नहीं पा सकते। सुख-सन्तोष रोटी-कपडा कमाने से मिलेगा, पैसा कमाने से नहीं।

रोटी न कमाकर पैसा कमाने में एक और ऐब है। घर तीन-तेरह हो जाता है। घर जुटाने वाले माता-पिता और अविवाहित बच्चे अलग-अलग हो जाते हैं। बाप दफ्तर चल देता है और अगर माँ पढ़ी-लिखी हुई तो वह स्कूल चल देती है। बालक घर में सनाथ होते हुए अनाथ हो जाते हैं। यह कोई घर है! वासना के नाते जोड़ा झमेला है। वह वासना कुछ कुदरती तौर पर और कुछ दफ्तरों के बोझ से पिचपिचाकर ऐसी बेकार-सी रह गई है, जैसे बकरी के गले में लटकते हुए थन।

घर को घर बनाने के लिए उसे कमाई की संस्था बनाना होगा वह कोरी खपत की कोठरी न रहकर उपज का कारखाना बनेगी। आदमी मुँह से खाता है तो उसे हाथ से कमाना भी चाहिए। इसी तरह एक कुटुम्ब को एक आदमी बन जाना चाहिए। कोई खेत जोत-बो रहा है, कोई कात रहा है, कोई बुन रहा है, कोई खाना बना रहा है, कोई मकान लिप रहा है, कोई कुछ और कोई कुछ कर रहा है। इधर-उधर मारे-मारे फिरने से वह जीवन सच्चा सुख देने वाला होगा।

आज भी गाँव शहर से ज्यादा सुखी हैं। वे अपना दूध पैदा कर लेते हैं, मक्खन बना लेते हैं, रुई उगा लेते हैं, सब्ज़ी बो लेते हैं, अनाज तैयार कर लेते हैं और सबसे बडी बात तो यह है कि घर को वीरान नहीं होने देते। शहर वाले ये सब चीजें पैसे से खरीदते हैं। घर-बार छोड़कर, गले में

ग़ुलामी का तौक डाले, सुबह-सुबह खरगोश की चाल जाते है और शाम को कछुए की चाल घिसटते-घिसटते घर आते हैं।

वृक्ष का अपना कोई सुख नहीं होता। जड़ों का नीचे तक जाना, खुराक खींचने के लिए काफी मजबूत होना; पेड़ का डालियों और पत्तो के बोझ को सँभाले रखने के लिए काफी मोटा होना, रस ऊपर ले जाने के लिए पूरा योग्य होना, डालों का मुलायम होना, पत्तों का हरा-भरा होना इत्यादि ही पेड़ का सुख है। ठीक इसी तरह समाज का अपना कोई सुख नहीं। वह समाज सुखी है—जिसके बच्चे, जवान, बूढ़े, औरत, मर्द सुखी हैं, भरे-बदन हैं, हँसते चेहरे हैं, ऊँची पेशानी हैं, खातिरदारी के नमूने हैं, समझदारी के पुतले हैं, आदमी की शक्ल में फरिश्ते हैं। ऐसी ही मनुष्यों की जिन्दगी के लिए देवता तरसते हैं।

जिस्म बनाने के लिए खाना, कपड़ा और मकान चाहिए। जी हाँ, चाहिए; पर उन चीजों के जुटाने में अगर आपने देह को थका मारा तो वे सुख न देकर आपको काटेंगे, खसोटेंगे, रुला देंगे। मेहनत से आप ये चीजें जुटाइये, पर ऐसी मेहनत से, जिसमे लगकर आपका जिस्म फूल उठे, आपका मन उमंग उठे, आपका जी लग सके, आपका दिमाग ताजगी पा सके, आपकी आत्मा चैन माने और जिस काम मे आप अपने को दिखा रहे हों कि आप क्या हैं। जिस काम मे आप का आत्म-विकास न हो, आपका आत्म-प्रकाश न हो, उसे कभी न करना। वह काम नहीं, बेगार है। बदले मे ढेरों रुपये मिले तो भी न करना। असल में जी न लगने वाले कामो मे लगाकर जी मर जाता है। मरे जी, मरी तबियतें, सुख का आनन्द कैसे ले सकती है?

दोस्तो, समाज को सुखी बनाने के लिए अपना वक्त जाया न करो। वह सुखी न होगा। वह मशीन है। वह जानदार नहीं है। वह तुम सब का मिलकर एक नाम है। तुम अपने को सुखी बनाओ, वह सुखी है।

यह नहीं हो रहा।

जैसे बहुत खाने से सुख नहीं होता, भूखों मरने से भी सुख नहीं

मिलता, वैसे ही बहुत कमाने से सुख नहीं मिलता और न बिलकुल बेकार रहने से। जो बेहद कमा रहे हैं, वे बिलकुल सुखी नहीं। वे असल में कमा ही नहीं रहे, उनके लिए और कमा रहे हैं। और जो और कमा रहे हैं वे यों सुखी नहीं हैं कि वे अपने लिए नहीं कमा रहे। यों समाज में कोई सुखी नहीं है और इसी वजह से समाज में कहीं पहाड़ और कहीं खाई बन गई है। समतल भूमि नाम को नहीं रही। समता में सुख है। समता का नाम ही समाज है। अगर समता का नाम समाज नहीं है तो उस समता को पैदा करने के लिए ही उसका जन्म होता है। समता होने तक समाज चैन नहीं लेता। चैन पा भी नहीं सकता।

खाना, कपड़ा, मकान, दुःख पाये बिना मिल सकते हैं? जरूर मिल सकते हैं; बिलाशक मिल सकते हैं। और अगर नहीं मिल सकते तो सुख भी नहीं मिल सकता। फिर समाज का ढाँचा बेकार, उसका पैदा होना बेसूद, उसकी हस्ती निकम्मी। अगर आराम की निहायत जरूरी चीजें जुटाने में भी हमें अपने पर शक है, तो सुख हमारे पास न फटकेगा। फिर तो हम मोहताज से भी गये-बीते हैं। फिर बच्चे के माने—अनाथ। जवान के माने—टुकरखोर और बूढ़े के माने—जीते-जी-मुर्दा।

साँस लेकर खून की खुराक हवा, हम हमेशा से खींचते आये हैं, खींच रहे हैं और खींचते रहेंगे। फिर हाथ-पाँव हिलाने से जिस्म की खुराक रोटी, कपड़ा, मकान क्यों न पायेंगे? हम पाते तो रहे हैं; पर पा नहीं रहे हैं। कोशिश करने से पा सकते हैं और पाते रहेंगे। हवा हम खुद खींचते हैं, अनाज और कपास भी हम खुद उगायेंगे।

हमने अब तक धन ढूँढ़ा, धन ही हाथ आया। अब सुख की खोज करेंगे और उसे ढूँढ़ निकालेंगे।

जर, जमीन, जबरदस्ती की मेहनत और जरा सख्त इन्तजामी से पैसा कमाया जा सकता है, तो चार बीघे जमीन से, चार घड़ी सुबह-शाम जुट जाने से, चरखे जैसी मशीनों के बल से और चतुराई की चोटनी जितनी चिनगारी से, चैन और सुख भी पाया जा सकता है।

नये युग में नये अर्थ-शास्त्र से काम चलेगा, पुराने से नहीं।

चार बीघे जमीन का दूसरा नाम है घर-बार। घर वह जिसमे हम रहते हैं। घर-बार वह जिसमे हम सुख से रहते हैं, यानी उसमें हम कमा-खा भी लेते हैं।

आदमी भूचर, थलचर प्राणी है। वह हवा मे भले ही उड़ ले और सागर में भले ही तैर ले, पर जीता जमीन से है और मरकर उसी मे मिल जाता है। वह जमीन से ही जियेगा और यह ही उसका जीने का तरीका ठीक माना जायगा। जमीन उसे जो चाहे करने देगी और जी चाहे जैसा रहने देगी। उसे हर तरह आजाद कर देगी। वह जमीन से हटकर जबर से जेर हो जायगा। आजादी खोकर गुलामी बुला लेगा। आजादी के साथ सुख का अन्त हो जायगा। दुःख आ जुटेगा और वह देवता से कोरा दुपाया रह जायगा।

जब हमारे पास जमीन थी हम सुखी थे और हमने वेद रच डाले। दशरथ और जनक हल चलाते थे, कौरव और पाण्डव खेत जोतते-बोते थे। वे आज भी जीवित हैं और हमें पाठ दे रहे हैं। सुख जमीन मे है और वहीं से मिलेगा।

जिस दिन तुमने जमीन लेकर फावड़ा उठाया, उसी दिन तुम्हारा सुख तुम्हारे सामने हरी-हरी खेती बनकर लहराया। और जिस दिन उसी खेती से लगी अपनी छोटी-सी कुटिया में बैठकर चरखा चलाते-चलाते तुमने वेद से भी ऊँची ज्ञान की तान छेड़ी कि सुख अप्सरा का रूप रख तुम्हारे सामने नाचने लगेगा। फिर किस सेठ की मजाल है जो तुम से आकर कहे कि आओ, मेरी मिल में काम करना या मेरी मिल में मैनेजर बनना। कौन राजनेता तुमको सिपाही बनाने या वजारत की कुरसी पर बिठाने की सोचेगा? और कौन सेनापति तुमको फौज मे भरती होने के लिए ललकारेगा? ये सब तो तुम्हारे सामने दुजानू हो (दण्डवत कर) सुख की भीख माँगेंगे। सच्चा गायक हुक्म पाकर राग नहीं छेड़ता, सच्चा चित्रकार रुपयों की खातिर चित्र नहीं बनाता। गायक गाता है—अपनी लहर में आकर। चित्रकार चित्र

मनाता है—अपनी मौज में आकर। ठीक इसी तरह तुम भी करो, जो तुम्हारा जी चाहे, जिसमे तुम खिल उठो, जिसमें तुम कुछ पैदा कर दिखाओ, जिसमे तुम कुछ बनाकर दे जाओ। ऐसा करने पर सुख तुम्हारे सामने हाथ बाँधे खडा रहेगा।

आजकल 'मेहनत बचाओ', 'वक्त बचाओ' की आवाज चारों ओर से आ रही है। मेहनत बचाने वाली और वक्त बचाने वाली मशीनें आये-दिन गढ़ी जा रही हैं। परम पवित्र श्रम को कुत्ते की तरह दुत्कारा जा रहा है। समय जिसकी हद नहीं, उसके कम हो जाने का भूत सवार है। एक ओर समय के निस्सीम होने पर व्याख्यान दिया जा रहा है और दूसरी ओर गाडी छूट जाने के डर से व्याख्यान अधूरा छोडकर भागा जा रहा है! यह क्या! एक ओर श्रम की महत्ता पर बडे-बड़े भाषण हो रहे हैं। दूसरी ओर उसी से बचकर भागने की तरकीबें सोची जा रही हैं। खूब! काम के बारे में लोगों का कहना है, "काम करना पडता है, करना चाहिए नहीं।" उन्ही का खेल के बारे में कथन है, "खेलने को जी तो चाहता है, पर वक्त ही नही मिलता।" इन विचारों मे लोगों का क्या दोष? समाज का दोष है। हर एक से वह काम लिया जा रहा है, जिसे वह करना नहीं चाहता। और वह भी इतना लिया जाता है कि उसे काम से नफरत हो जाती है। उसको सचमुच खेल में सुख मिलता-सा मालूम होता है।

काम में खेल की अपेक्षा हजार गुना सुख है, पर उस सुख को तो समाज ने मिलो को भेंट चढ़ा दिया! आदमी को मशीन बना दिया! मशीन सुख कैसे भोगे।

माली को, किसान को, कुम्हार को, चमार को, जुलाहे को, दरजी को, बढई को, मूर्तिकार को, चित्रकार को, उनकी प्यारी-प्यारी पत्नियाँ रोज खाना खाने के लिए खुशामद करती देखी जाती हैं। वे काम से हटाये नहीं हटते। कभी-कभी तो इतने तल्लीन पाये जाते हैं कि वे सच्चे जी से अपनी पत्नियों से कह बैठते हैं, "क्या सचमुच हमने अभी खाना नहीं खाया?" यह सुन उनकी सहधर्मिणिया मुस्करा देती है और उनके हाथ से काम के औजार लेकर

उन्हें प्यार से खाना खिलाने ले जाती हैं। सुख यहाँ है। यह सुख दफ्तर के बाबू को कहाँ! मिल के मालिक को कहाँ! सिपाही को कहाँ! उनकी बीवियाँ तो बाट जोहते-जोहते थक जाती हैं। एक रोज़ नहीं, रोज यही होता है। मुहब्बत इस बेहद इन्तजार की रगड़ से गरमा जाती है और आग की चिनगारियाँ उगलने लगती है। इसका दोष बीवी को न लगाकर समाज को ही लगाना चाहिए। कुम्हारिन, चमारिन वग़ैरह अपनी आँखों अपने पतियों को कुछ पैदा करते देखती हैं, कुछ बनाते देखती हैं, कुछ उगलते देखती हैं; कुछ उमंगते देखती हैं, कुछ आनन्द पाते देखती हैं। पर सेठों की औरतें इन्तजार में सिर्फ़ घड़ियाँ गिनती हैं और अगर देखती हैं तो यह देखती हैं कि उनके पति घिसटते-घिसटते चले आ रहे हैं, या पाँव के पहिये लुढ़काते आ रहे हैं, या मोटर में बैठ ओंघते आ रहे हैं। वे उनकी दया के पात्र रह जाते हैं, मुहब्बत के नहीं। कुम्हार का चेहरा काम के बाद चमकेगा, वजीर का मुरझायेगा। कुम्हार के जी में होगी कि थोड़ी देर और काम करता, वजीर के जी मे होगी कि जरा जल्दी ही छुट्टी मिल जाती तो अच्छा होता। जो अन्दर होता है वही बाहर चमकता है। जो चमकता है उसी हिसाब से स्वागत मिलता है।

जिसे काम मे सुख नहीं, वही उसे खेल में ढूँढ़ेगा। वहाँ वह उसको मिल भी जायगा। उसके लिए तो काम से बचना ही सुख है। वह काम से तो किसी तरह से बच जाता है पर काम की चिन्ता से नहीं बच पाता। खेल में भी जी से नहीं लग पाता। वहाँ से भी सुख के लिहाज से खाली हाथ ही लौटता है।

'काम के घण्टे कम करो'—यह शोर मच रहा है—और यह प्रलय के दिन तक मचता रहेगा। काम आठ घण्टे की बजाय आध घण्टे का भी कर दिया जाय तब भी सुख न मिलेगा। ऊपर-नीचे हाथ किये जाने में आध घण्टे मे ही तबीयत ऊब जायगी। पाँच मिनट को भी मशीन बनने में सुख नहीं। एक मिनट की गुलामी दिन-भर का खून चूस लेती है। काम के घण्टे कम करने से काम न चलेगा। काम को बदलना होगा। काम अभी

तक साधन बना हुआ है। उसे साधन और साध्य दोनों बनाना होगा।

चार मील सर पर दूध रखकर बाजार पहुँच, हलवाई को बेच और बदले में रबड़ी खाने में वह सुख नहीं है, जो घर पर उसी दूध की रबड़ी बनाकर खाने में है। साधन को साध्य में बदलने से ही सुख मिल सकेगा और वही सच्चा सुख होगा।

बिना सोचे-समझे पहिया घुमाए जाना, हथौड़ा चलाए जाना, तार काटे जाना, कागज उठाए जाना, उजड्डपन या पागलपन के काम हैं। इनको मिल-मालिक भला और समझदारी का काम बताते हैं। नाज, तरकारी और फल उगाने के शानदार काम को बे-अक्ली और नासमझी का बताते हैं। खूब! किया उन्होंने दोनों मे से एक नहीं।

पेट भरने के लिए मेहनत की जाती है। यह सच है, पर इसमें एक-चौथाई सचाई है, तीन चौथाई सचाई इसमें है कि हम मेहनत इसलिए करते हैं कि हम जीते रहे, आनन्द के साथ जिन्दगी बिता सकें और गुलामी का गलीज धब्बा अपनी जिन्दगी की चादर पर न लगने दें। हम पेट भरने के लिए हलवा बनायें, यह ठीक है, पर हम ही उसको खायें-खिलायें, यह सवा ठीक है, और हम ही उसके बनाने का आनन्द लें, यह डेढ़ ठीक है। मेहनत हमारी, उपज हमारी, तजुर्बा हमारा, तब सच्चा सुख भी हमारा।

जानवर रस्सी से बँधता है यानी जगह से बँधता है। शेर भी माँद मे रहकर जगह से बँधता है और आदमी? वह घर में रहकर जगह से बँधता है। दस बजे दफ्तर जाकर वक्त से बँधता है। वाह रे प्राणी-श्रेष्ठ! चिड़िया फुदकती फिरती है और खाती फिरती है। उसे ९-१०-११ बजने से कोई सरोकार नहीं। आदमी के अद्धे, पौवे बजते हैं, मिनटो का हिसाब रखा जाता है। सिकण्डों की कीमत आँकी जाती है और यह कहा जाता है कि उसने जगह (Space) और वक्त (Time) दोनों पर काबू पा लिया है। हमें तो ऐसा जँचता है कि वह दोनों के काबू मे आ गया है।

और लीजिए। हमें बाप-दादो की इज्जत रखनी और नाती-पोतो के लिए धन छोड़ जाना है, यानी स्वर्गवासियों को सुख पहुँचाना है और उनको

जिन्होंने अभी जन्म भी नहीं लिया ! तब हम बीचवालों को सुख कैसे मिल सकता है ?

अगले-पिछलों को भूल जाना, जानवर बनना नहीं है—सच्चा आदमी बनना है। हमारे सुखी रहने मे हमारे पिछले सुखी और हमारे अगले सुखी। सुखी ही सुखी सन्तान छोड जाते हैं और सुखी देखकर ही स्वर्गीय सुखी होते है। बेमतलब की मेहनत मे समय खर्च करना गुनाह है। वक्त पूँजी है। उसे काम मे खर्च करना चाहिए और ऐसे काम मे जो अपने काम का हो।

सुख भोगने की ताकत को जाया करनेवाले कामों मे लगाकर जो वक्त जाता है, उस कमी को न गाना पूरा कर सकता है, न बजाना, न खेल, न तमाशा, न कोई और चीज़।

कपड़ा खत्म कर धब्बा छुडाना, धब्बा छुड़ाना नहीं कहलाता; ठीक इसी तरह आदमी को निकालकर वक्त बचाना, वक्त बचाना नहीं हो सकता। मिलें यही कर रही हैं। सौ आदमी की जगह दस और दस की जगह एक से काम लेकर निन्यानवे को बेकार कर रही है। काम में लगे एक को भी सुख से वंचित कर रही हैं। यो सौ-के-सौ का सुख हडप करती जा रही हैं।

मिल और मशीन एक चीज नहीं। मिल आदमी के सुख को खाती है और मशीन आदमी को सुख पहुँचाती है। मशीन सुख से जनमी है, मिल शरारत से। चर्खा मशीन है, कोल्हू मशीन है, चाक मशीन है, सीने की मशीन मशीन है। मशीनें घर को आबाद करती हैं, मिलें बरबाद करती हैं। मशीन कुछ सिखाती है, मिल कुछ भुलाती है। मशीन सेवा करती है, मिल सेवा लेती है। मशीन पैदा करती है, मिल पैदा करवाती है। मशीन समाज का ढाँचा बनाती है, मिल उसी को ढाती है। मशीन चरित्र बनाती है, मिल उसी को धूल मे मिलाती है। मशीन गाती है, मिल चिल्लाती है। मशीन धर्मपत्नी की तरह घर मे आकर बसती है, मिलें वेश्या की तरह अपने घर मे बुलाती है और खून चूसकर निकाल बाहर करती है। मशीन

चलाने मे मन हिलोरें लेता है, मिल मे काम करने मे मन चकराने लगता है, जी घबराने लगता है। मशीनें पुरानी हैं। हमसे हिल-मिल गई हैं। मिलें नई हैं और कर्कश स्वभाव की हैं। मशीनें हमारे कहने में रहती हैं, मिलें हमारी एक नहीं सुनतीं। मतलब यह कि मशीन और मिल का कोई मुकाबला नहीं। एक देवी तो दूसरी राक्षसी है।

मशीनों की पैदावार का ठीक-ठीक बटवारा होता है। मिलो का न होता है और न हो सकता है। और अगर मार-पीटकर ठीक कर दिया जाय तो तरह-तरह की दुर्गन्ध फैलेगी, बेकारी फैलेगी, बदकारी फैलेगी, बीमारी फैलेगी और न जाने क्या-क्या होगा!

मशीन पर लगाया हुआ पैसा घी-दूध में बदल जाता है, मिलो पर लगाया हुआ पैसा लाठी, तलवार, बन्दूक, बन जाता है।

एक का सुख जिसमें है, सबका सुख उसमें है। एक को भुलाकर सब के सुख की सोचना सब के दुःख की सोचना है। मिलें सैकडों का जी दुखाकर शायद ही किसी एक को झूठा सुख दे सकती हों। झूठा सुख यों कि वे मुफ्त का रुपया देती हैं और काफी से ज्यादा धन से ऊबा देती हैं। ऊबने में सुख कहाँ?

ऊपर बताये तरीकों से सुख मिलता है; पर उस सुख को बुद्धि के ज़रिये बहुत बढ़ाया जा सकता है। ज्ञान बाहरी आराम को अन्दर ले जाकर कोने-कोने मे पहुँचा देता है। अनुभव, विद्या, हिम्मत वग़ैरह से ज्ञान कुछ ऊँची चीज़ है। वही अपनी चीज़ है। और चीज़ें उससे बहुत नीची हैं। ज्ञानी आत्म-सुख खोकर जिस्मानी आराम नहीं चाहेगा। भेडिये की तरह कुत्ते के पट्टे पर उसकी नज़रे फौरन पहुँचती हैं। उसको यह पता रहता है कि आदमी को कहाँ, किस तरह, किस रास्ते पहुँचना है। जो यह नहीं जानता वह आदमियत को नहीं जानता और फिर वह आदमी कैसा! समझ मे नहीं आता, दुनिया धन कमाने मे धीरज खोकर अपने को धी-मान कैसे माने हुए है! वह धन की धुन में पागल बनी हुई है और उसी पागलपन का नाम उसने बुद्धिमानी रख छोडा है। खूब! उसने सारे सन्त-महन्तों को

महलों में ला बिठाया है, गंदी गलियों में मन्दिर बनाकर न जाने वे उनको क्या सिद्ध करना चाहते हैं ! ज्ञान से दुनिया इतनी दूर हट गई है कि उसके हमेशा साथ रहनेवाला सुख उसकी पहचान में नहीं आता। सुख का रूप बनाये असन्तोष उसे लुभाये फिरता है और घुमाये फिरता है। हिरन की तरह लू की लपटों को पानी मानकर दुनिया उसके पीछे-पीछे दौड़ती चली जा रही है। तुम बुद्धिमानी के साथ सुख कमाने मे लगो। उसे असन्तोष के पीछे दौड़ने न दो।

कितना ही मूर्ख क्यों न हो, 'क्यों' और 'कैसे' को अपनाने से बुद्धिमान बन सकता है। अनुभव से बड़ी पाठशाला और कौन हो सकती है ? हॉ, दुनिया की लीक छोड़कर अपने रास्ते थोडी देर भटककर ही सीधा रास्ता मिलेगा। ध्यान रहे, आदमी को लीक-लीक चलने में कम-से-कम बुद्धि लगानी पड़ती है, पर वह लीक सुखपुरी को नहीं जाती। वह लीक असन्तोष नगर को जाती है। उस ओर जाने की उसे पीढ़ियों से आदत पड़ी है। दूसरे रास्ते में ज़्यादा-से-ज़्यादा बुद्धि लगानी पड़ती है, ज्यादा-से-ज़्यादा जोर लगाना पड़ता है, वह कोई बनी हुई पगडंडी नहीं है। हर एक को अपनी बनानी पड़ती है। हॉ, उस रास्ते चलकर जल्दी ही ज्ञान-नगर दीखने लगता है और फिर हिम्मत बॅध जाती है। कम ही लोग आदत छोड़ उस रास्ते पर पड़ते हैं, पर पड़ते जरूर हैं। जो पडते हैं, वे ही ज्ञान-नगर पहुँचते हैं और उसके चिर-साथी सुख को पाते है।

सुख चाहते सब हैं। बहुत पा भी जाते हैं; पर थोड़े ही उसे भोग पाते हैं। सुख ज्ञान के बिना भोगा नहीं जा सकता। असन्तोष नगर की ओर जो बहुत बढ़ चुके हैं वे सुनकर भी नहीं सुनते और जानकर भी नहीं जानते। उन्हे भेद भी कैसे बताया जाय, क्योंकि वे भेद जानने की इच्छा ही नहीं रखते। भगवान् बुद्ध पर उसका राजा बाप तरस खा सकता था, पॉव छू सकता था, बढ़िया माल खिला सकता था, पर भेद पूछने की उसे कब सूझ सकती थी। सेठ को स्वप्न भी आएगा तो यह आएगा कि अमुक साधु बिना कुटी का है उसकी कुटी बना दी जाय। उसे स्वप्न यह नहीं आ

सकता कि वह साधु सुख का भेद जानता है और वह भेद उससे पूछा जाय।

ज्ञानी कहलाने वाले लोग बाजार की चीज बने हुए हैं। अखबार उठाओ और जी चाहे जितना मँगा लो। जो बाजार की चीज बनता है, वह ज्ञानी नहीं है। वह क्या है, यह पूछना बेकार है और बताना भी बेकार है।

पैदा हुए, बढ़े, समझ आई, दुःख-सुख भोगा, बच्चे पैदा किये, बूढ़े हुए और मर गए। यह है जिन्दगी! एक के लिए और सबके लिए। इसमें सुख कहाँ? सुखी वह है, जिसने यह समझ लिया कि कैसे जीयें? क्यों जीयें? पर यह कौन सोचता है और किसे ठीक जवाब मिलता है? मुसलमान के लिए यह बात 'कुरानशरीफ' सोच देता है और हिन्दू के लिए 'वेद' भगवान्। फिर लोग क्यों सोचें? कभी कोई सोचने वाला पैदा हो जाता है, पर उसका सोचा उसके काम का। तुम्हारे किस काम का? वह तुमको सोचने को कहता है। तुम उसका सोचा अपने ऊपर थोप लेते हो। थोपने से तुम्हारा अपना ज्ञान छुप जाता है। सोचने की ताकत जाती रहती है। इस तरह दुनिया वहीं-की-वहीं बनी रहती है। पुजारी पूजा करता रहता है, सिपाही लडता रहता है, सेठ पैसा कमाता रहता है, नाई-धोबी सेवा करता रहता है। सोचने का रास्ता बन्द हो जाता है, रूढ़ि रोग रुके-का-रुका रह जाता है। रूढ़ि रोग से अच्छा होना चमत्कार ही समझना चाहिए। रूढियों में खोट निकालने लगना और भी बडा चमत्कार है और उन्हें सुख के रास्ते के काँटे बता देना सबसे बडा चमत्कार है। जिन्दगी की अलिफ़-बे-ते, यानी अ-ई, यहीं से शुरू होती है।

धर्म भले ही किसी बुद्धिमान की सूझ हो, पर हिन्दू जाति, मुसलमान जाति, ईसाई जाति, जैन जाति, सिख जाति, किसी की सूझ नहीं है। ये आप उगने वाली घास की तरह उठ खडी हुई है। इनकी खाद है—कायरता, जंगलीपन, उल्टी-सीधी बातें, उजड्डपन, दब्बूपन वगैरह। आलस के पानी से ये खूब फलती-फूलती है।

रिवाजो की जड मे, फिर वे चाहे कैसे ही हो, मूर्खता और डर के

सिवाय कुछ न मिलेगा। जब किसी को इस बात का पता चल जाता है तो उस रिवाज को वह फ़ौरन तोड़ डालता है और अपनी समझ से काम लेने लगता है।

आज ही नहीं, सदा से ज्ञान पर शक होता आया है। कुछ धर्म-पुस्तकें तो उसको शैतान की चीज़ मानती हैं। जो धर्म-पुस्तक ऐसा नहीं बताती उसके अनुयायी ज्ञान की खिल्ली उड़ाते हैं और खुले कहते हैं कि ज्ञानी दुराचारी हो सकता है और अज्ञानी भला, पर याद रहे सुखी जीवन ज्ञानी ही बिता सकता है, अज्ञानी कदापि नहीं। अज्ञानी वेगुनाह हो सकता है, भला नहीं। भला बनने के लिए अक्ल चाहिए। वह अज्ञानी के पास कहाँ? ईंट-पत्थर निष्पाप हैं, मन्दिर के भगवान् भी निष्पाप हैं, पर वे कुछ भलाई नहीं कर सकते।

सब एक बराबर ज्ञान लेकर नहीं पैदा होते। हीरा भी पत्थर है और संगमरमर भी पत्थर, पर संगमरमर घिसने पर हीरे जैसा नहीं चमक सकता। पढने-लिखने से समझ नहीं बढ़ती। हाँ, पहले से ही समझ होती है तो पढ़ने-लिखने से चमक उठती है। यो सैकड़ो पढ़े-लिखे रूढ़ियों में फँस जाते हैं, वे दया के पात्र हैं। और क्या कहा जाय!

आजकल की दुनिया अक्षर और अंको की हो रही है, यानी बी० ए०, एम० एओं की या लखपतियों-करोड़पतियों की, समझदारों की नहीं। वह सुखी जीवन मे और जीवन-सुख के साधनों मे कोई अन्तर करना ही नहीं जानती। दुनिया में समझदार नहीं, ऐसी बात नहीं है। वे हैं और काफ़ी तादाद मे है, पर वे भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और विदुर आदि की तरह अक्षरों और अंकों को बिक गये हैं। जो दो-एक बचे हैं, वे संस्थाएँ खोलकर अपने जाल में फँस गये हैं। और उन्हीं के, यानी अक्षरों और अंकों में हो गये है। अपनी औलाद की खातिर और मनुष्य-समाज की खातिर वे उस गुलामी से निकलें तो दुनिया बदले और सुखी हो। याद रहे, दुनिया समझदारों की नकल करती है, अक्षरो और अंकों की नहीं। हमेशा से ऐसा होता आया है और होता रहेगा।

दुनिया असच की ओर दौड़ी चली जा रही है। कोशिश करने से बिलकुल सम्भव है कि वह सच की ओर चल पड़े।

दुनिया बुराई में फँस रही है। ज़ोर लगाने से निकल सकती है और भलाई में लग सकती है।

दुनिया दिन-पर-दिन भोंडी होती जा रही है। कोशिश करने से शायद सुगढ़ हो जाय।

सत्यं, शिवं, सुन्दरं के लिए भी क्या दासता न छोडोगे?

पैसा रोके हुए है।

समझदारों को वह कैसे रोकेगा? वे ऐसी अर्थनीति गढ़ सकते है, जिससे मनचाहा काम मिलने लगे और पराधीन भी न रहें। रोटी-कपड़े ही से तो काम नहीं चलता। आत्मानन्द भी तो चाहिए। बिना उस आनन्द के सुख के साधनो मे डूबकर भी सुख न पा सकोगे।

समाज की सेवा इसी में है कि वर्तमान अर्थनीति का जाल तोड़ डाला जाय। ज्ञानियो को रगड़ना छोडना ही होगा और इस जिम्मेदारी को ओढ़ना ही होगा। इस विष के घडे को फोडना ही होगा। अपने को बचाना है, अपनी सन्तान को बचाना है, मनुष्य समाज को बचाना है। यह कुरूपी दुनिया तुम्हारे हाथों ही सुखिया बन सकती है और किसी के बूते सुखिया न बनेगी।

पैसा ठीकरा है। वह तुम्हें क्यों रोके?

पापी पेट रोक रहा है।

पापी पेट ने समझदारों को कभी नहीं रोका। उनका जिस्म कमज़ोर नहीं होता। वे भूख लगने पर खाते हैं। वे काम करते है और खेलते जाते हैं। वे थोडा खाते हैं और बहुत बार नहीं खाते। वे धीरे-धीरे खाते हैं। वे क़ुदरती चीजे खाते हैं। जरूरत पड़ने पर हाथ की दनी भी खा लेते हैं। वे घर पर खाते है। वे बीमार क्यों होंगे और क्यो कमज़ोर?

जिस्म तुम्हारा घोडा है। वह तुम्हे क्यों रोकेगा? वह तो तुम्हे आगे, और आगे, ले चलने के लिए तैयार खडा है।

समाज रोक रहा है ।

वह क्या रोकेगा ? वह घास की तरह उग खड़ा हुआ जंजाल है । वह सूख चुका है । उसमे अब दम कहाँ ? उसमे रिवाजों के बट है सही, पर वे जली रस्सी की तरह देखने भर के हैं । अँगुली लगाते बिखर जायेंगे ।

समाज समझदारो को अपने रास्ते जाने देता है ।

धर्म रोकता है ।

धर्म आगे ढकेला करता है, रोका नही करता और अगर वह रोकता है तो धर्म नहीं है । धर्म के रूप में कोई रूढ़ि या रिवाज है । जो रोकता है वह धर्म नहीं होता । वह होता है 'धर्म का डर' । धर्म खुद तो डरावनी चीज नहीं, वह तो लुभावनी चीज है । पर धर्म के नाम पर चली रस्में बेहद डरावनी होती हैं । अगर डराती हैं तो वे, रोकती है तो वे । उस डर को भगाने मे समझ बड़ी मददगार साबित होगी ।

डर हम मे है नहीं । वह हम मे पैदा हो जाता है, या पैदा करा दिया जाता है । जो डर हम मे है, वह बड़े काम की चीज है । वह इतना ही है जितना जानवरों में । जिन कारणो से जानवर डरते हैं, उन्हीं कारणों से हम भी । उतना डर तो हमें खतरे से बचाता है और खतरे को बरबाद करने की ताक़त देता है । अचानक बन्दूक की आवाज से हम आज तक उछल पड़ते हैं । हमारी हमेशा की जानी-पहचानी बिजली की चमक हमको आज भी डरा देती है । इतना डर तो काम की चीज है, पर जब हम भूत-प्रेत से डरने लगें, नास्तिकता से डरने लगें, नरक से डरने लगें, मौत से डरने लगें, तब समझना चाहिए कि हमारा डर बीमारी मे बदल गया है । उसके इलाज की जरूरत है । तिल्ली और जिगर तो काम की चीजें हैं, पर बडी तिल्ली और बड़ा जिगर बीमारियाँ हैं । बड़ा डर भी बीमारी है । मामूली डर हमारी हिफ़ाजत करता है, बढ़ा हुआ हमारा खून चूसता है । हमे मिट्टी में मिला देता है । मिट्टी में मिलने से पहले हम उसे ही क्यो न मिट्टी मे मिला दें । भूत-प्रेत आदि हैं नहीं, हमने ख्याल से बना लिये हैं, जैसे हम अँधेरे मे रोज ही तरह-तरह की शक्लें बना लेते हैं ।

डरपोक को धर्म हिम्मत देता है, तसल्ली देता है, बच भागने को गली निकाल देता है। जिन्हें अपने-आप सोचना नहीं आता, धर्म उनके बड़े काम की चीज़ है। सोचने वाले ना-समझदारों के लिए ही तो उसे सोचकर रख गये हैं। सोचने-समझने वालों के लिए धर्म जाल है, धोखा है, छल है। धर्म आये दिन की गुत्थियों को नहीं सुलझा सकता, कभी-कभी और उलझा देता है। धर्म टाल-मटोल का अभ्यस्त है और टाल-मटोल में नई उलझनें खडी कर देता है।

सुखी बनने और समाज को सुखी बनाने के लिए यह बिलकुल ज़रूरी है कि हम अपने लिए, औरो के सोचे धर्म को, अपने मे से निकाल बाहर करें। उसकी रस्मे, उसकी आदतें, उसकी छूत-छात, उसका नरक-स्वर्ग, उसकी तिलक-छाप उसकी डाटी-चोटी, उसका धोती-पाजामा एक न बचने दें। सच्चाई, भलाई और सुन्दरता की खोज मे इन सब को लेकर एक कदम भी आगे नहीं बढा जा सकता।

माँ बच्चे के लिए हौवा गढ़ती है। बच्चा डरता है। माँ नहीं डरती। माँ क्यो डरे? वह तो उसका गढा हुआ है। महापुरुष एक ऐसी ही चीज़ हमारे लिए गढ़ जाते हैं। हम डरते हैं, वे नहीं डरते। जो दिखाई-सुनाई नहीं देता, जो समझ में नही आता, जो सब कहीं और कहीं नही बताया जाता, ऐसे एक का डर हम में बिठा दिया जाता है। धर्म साधारण ज्ञान और विज्ञान की तरह सवाल-पर-सवाल पैदा करने मे काफी होशियार है, पर जवाब देने या हल सोच निकालने मे बहुत ही कम होशियार। वह होनी बातो को छोड अनहोनी मे जा दाखिल होता है। धर्म की इस आदत से आम आदमियो को बडे टोटे मे रहना पडता है। वे जाने-अनजने अपनी अजानकारी को कबूल करना छोड़ बैठते हैं। इस ज़रा-सी, पर बड़ी भूल से आगे की तरक्की रुक जाती है। समझदार अपनी अजानकारी जानता भी है और औरो को भी कह देता है। समझदारी की बढवारी मे अजानकारी भी बढ़ती है, पर इससे समझदार घबराता नहीं। खोज में निकला आदमी बीहड जंगलो से घबराए तो आगे कैसे बढ़े? समझदार अपने मन मे उठे सवालो

का काम-चलाऊ जवाब सोच लेता है। वे जवाब काम-चलाऊ ही होते है, पक्के नहीं। पक्केपन की मोहर तो वह उन पर तब लगाता है जब वे तजुर्बे की कसौटी पर ठीक उतरते हैं।

जो जितना ज़्यादा रूढ़िवादी होगा, वह उतना ही ज़्यादा धर्मात्मा होगा, उतना ही ज्यादा अजानकार होगा, उतना ही ज़्यादा उसे अपनी जानकारी पर भरोसा होगा। वह स्वर्ग को ऐसे बतायेगा, मानो वह अभी वहाँ से होकर आ रहा है। वह ईश्वर को ऐसे समझाएगा, मानो वह उसे ऐसे देख रहा है, जैसे हम उसे।

नासमझी से समझदारी की तरफ चलने का पहला कदम है 'शंका करना'। शका करना ही समझना है। अपनी नासमझी की गहराई शंका के फ़ीते से नापी जाती है। यह नापना ही समझदारी है। 'ईश्वर है' यह कह-कर सचाई की खोज से भागना है। अपनी नासमझदारी से इन्कार करना है।

कितना सच्चा और कितना समझदार था वह, जो मरते दम तक यही कहता रहा, "यह भी ईश्वर नहीं," "यह भी ईश्वर नहीं," "यह भी ईश्वर नहीं" (नेति, नेति, नेति) उसकी तरह तुम भी खोज में मिटा दो अपने आपको, पर जानकारी को मत छिपाओ। 'मैं नहीं जानता' कहना जिसको नहीं आता, वह सच्चा नही बन सकता। समाज-सेवक तो बन ही नहीं सकता।

आस्तिकता के लिए अपनी बोली मे लफ्ज़ है 'है-पन।'[1] जो यह कहता है, "मैं नही जानता कि ईश्वर है" वही आस्तिक है। जो यह नहीं जानता, "ईश्वर है" और कहता है कि "ईश्वर है" वह नास्तिक है।

क्यो ?

"जो नहीं जानता कि ईश्वर है" यह वाक्य यूं भी कहा जा सकता है कि जो जानता है कि ईश्वर नहीं है। "नहीं है"—यही नास्तिकता है।

मन की जमीन मे बेजा डर का कितना ज़्यादा खाद होगा, धर्म का बीज उतना ही जल्दी उसमे जड पकडेगा और फले-फूलेगा ?

---

१. 'है' कि भाववाचक संज्ञा।

महा-सत्ता यानी बड़ी ताकत से चाहे हम इन्कार न भी करें; पर बडी शखसियत से तो इन्कार कर ही सकते हैं। व्यक्तित्व—व्यक्ति की इन्द्रियों और मन का योगफल ही तो है। इनके बिना व्यक्तित्व कुछ रह ही नहीं जाता। अब कोई अनन्त गुणवाली शक्ति व्यक्ति नहीं हो सकती।

मन का स्वभाव है कि वह डरकर शेखी मारने लगता है। कहने लगता है—"मैं अजर हूँ, अमर हूँ, और न जाने क्या क्या हूँ।" धर्म की डींगों की जड मे भी अहंकार मिल सकता है। जीवन आप ही एक बडी पवित्र चीज़ है। तुम वैसा मानकर आगे क्यों नहीं बढ़ते? धर्म तुम्हारे मार्ग मे क्यों आडे आये?

आत्मा को अजर-अमर कहकर धर्म चिन्ता में पड गया कि वह इतना समय कहाँ बितायगा। इसलिए उसको मजबूर होकर नरक-स्वर्ग रचने पडे, पर इन दोनों ने दुनिया का कुछ भला न किया। धर्म के लिए आये-दिन के झगडों ने इनको सिद्ध किया है या असिद्ध, वह वह ही जानें। हिन्दू-मुसलमान लडकर हिन्दू स्वर्ग चले जाते है और मुसलमान जन्नत। नरक दोज़ख किसके लिए? हिन्दू-मुसलमान लड़कर हिन्दू मुसलमानों को नरक भेज देते हैं और मुसलमान हिन्दुओ को दोज़ख। फिर स्वर्ग, जन्नत किसके लिए?

फिर एक धर्म दूसरे की बातें काटता है। एक नैतिक विधान दूसरे को मंजूर नहीं। कहना यही होगा कि ठीक विधान किसी को भी नहीं मालूम।

असल मे कुछ सवाल निहायत जरूरी हैं और कुछ निहायत जरूरी-से मालूम होते हैं, पर बिलकुल गैरजरूरी हैं। दुनिया जरूरी सवालो को छोडकर गैर-जरूरी के पीछे पड़ गई है। इसलिए सुख से दूर पड गई है और समाज-सेवा की जगह समाज की दासता मे लग गई है। इस तरह दुनिया अपना नुकसान करती है और समाज का भी।

खाने-पहनने का सवाल सबसे जरूरी है ('भूखे भजन न होय गुपाला') इनको तो हल करना ही होगा। न हम बग़ैर खाये रह सकते हैं, न बग़ैर

पहने। रहने को मकान भी चाहिए। इसके बग़ैर भी काम नहीं चलता। इनके बिना जी ही नहीं सकते। सुख की बात तो एक ओर। जीवन नहीं तो धर्म कहाँ?

ज़रूरी से लगने वाले ग़ैर-ज़रूरी सवाल हैं—पुनर्जन्म, ईश्वर, स्वर्ग-नरक इत्यादि। इनके हल करने की बिरले ही कोशिश करते हैं और वह भी कभी-कभी। कोई-कोई इन सवालों को बहुत ज़रूरी समझते हैं, पर वे समझते ही हैं। कुछ करते नही हैं।

ईश्वर को कोई माने या न माने, आग उसे ज़रूर जलायेगी, पानी उसे ज़रूर डुबायेगा। कोई ईश्वर को माने या न माने, पानी उसकी प्यास ज़रूर बुझायेगा। आग उसकी रोटी ज़रूर पकायेगी। हाँ, धर्म के ठेकेदार मानने पर भले ही न मानने वालों को कुछ सज़ा दें। अब अगर न मानने वाले का समाज से कोई आर्थिक नाता नहीं है तो समाज का धर्म उसका क्या रोक लेगा और वह क्यों रुकेगा?

रह गया धर्म यानी सच्चा कर्त्तव्य। वह तो तुम्हारा तुम्हारे साथ है और हमेशा साथ रहेगा। रह गया धर्म, यानी सच्चा ज्ञान। वह तो तुम्हारा तुम्हारे साथ है और हमेशा साथ रहेगा। रह गया धर्म यानी सच्ची लगन। उसे तुमसे कौन छीनेगा? उसे धर्म रोकता नहीं।

धर्म वही जो हमे सुखी करे, हमें बाँधे नहीं, हमें रोके नहीं।

अब आपकी तसल्ली हो गई होगी और समाज-सेवा के मैदान मे कूदने की सारी दिक़्क़तें भी ख़त्म हो चुकी होगी। और आप हर तरह यह समझ गये होगे कि व्यक्ति जैसे-जैसे अपने पैरों पर खड़ा होता जायगा और जैसे-जैसे वह अपने खाने-पहनने और रहने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना छोडता जायगा, वैसे-वैसे ही वह सुखी होता जायगा और समाज को सुखी बनाता जायगा।

उसके पास ऐसी चीज़ें ही नहीं होंगी, जिनके लिए उसे सरकार की ज़रूरत पडे। हाँ, वह समाज की कुढंगी रचना के कारण कुछ दिनों सरकारी टैक्स से न बच सकेगा, पर इससे उसके सुख मे ज़्यादा बाधा न पड़ेगी।

लेकिन जब उसकी देखा-देखी और भी वैसा करने लगेंगे तो उसकी यह दिक्क़त भी कम होकर बिलकुल मिट जायगी।

बड़ी-बड़ी संस्थाओं का हम तजुरबा कर चुके, तरह-तरह की सरकारें बना चुके, तरह-तरह के धर्मों की स्थापना कर चुके; पर व्यक्ति को कोई सुखी न बना सका ! देखने के लिए आज़ाद, पर हर तरह गुलाम।

बस अपने को पूरा स्वस्थ रखने में, सब तरह प्रसन्न रहने में, भला और समझदार बनने में, अपने नियम बनाकर आज़ाद रहने मे और अपने ऊपर पूरा क़ाबू रखने में ही अपनों की, अपनी और समाज की सेवा है।



: ३ :

सज़ा, इनाम और होड़

सजा के ज़रिये हम नेकी के बीज मे अँकुआ फोड़ते हैं, इनाम से हम उसको पानी देकर बडा करते हैं और होड़ से उससे ज़्यादा-से-ज्यादा फल लेते हैं। दुराव, स्याव, ह्याव (सजा, इनाम, होड़) तीनो की एक ही ग़रज़ है यानी बालक मे बैठी नेकियों को जगाना, उठाना और काम मे लगाना। तीनों आदमी की ईजादें हैं। आदमी की हरेक ईजाद वडा काम कर रही है। दो-एक को छोड़, सब को ऐसा मालूम होता है कि आदमी की हरेक ईजाद समाज का वड़ा भला कर रही है। लगता है कि अगर वे ईजादें न हुई होतीं तो आदमी वड़ा दुखी होता। मिसाल के लिए परमाणु-बम। अपनी ईजादो के बल पर आदमी यह सोचने लगा है कि अगर कल वह गेहूँ की खेती करना छोड़ दे तो गेहूँ का दुनिया से नाम-निशान मिट जाय और भी वहुत-सी चीजों का यही हाल हो। ठीक इसी तरह वह यह भी सोचने लगा है कि अगर सजा को उठा दे तो दुनिया में वदमाशों की बाढ़ आजाय। इनाम देना वन्द कर दें तो सारी दुनिया सोया करे, कोई कुछ काम ही न करे। होड का रिवाज उठा दें तो आदमी को जंग लग जाय और वह घिस-कर गल-सड जाय। अफ्रीका के जंगलों में आपो-आप उगे केले के दरख्त कितने वड़े और मीठे केले देते है, उस तरफ उसकी निगाह ही नहीं जाती। जहाँ सजा, इनाम, होड नहीं पहुँची ऐसी जंगली जातियों में कितनी सिफतें पाई जाती हैं उस तरफ वह ध्यान ही नहीं देता। उसने कुछ मनमाने कायदे

बना लिए हैं जो उसके लिए जाला बन गए है। आदमी मकडी हुआ उस जाले में न जाने किस शिकार की ताक मे बैठा रहता है।

लीजिए, पहले सजा के बारे में कुछ विचार सुनिये:—

सारी जिन्दगी, सारा अनुभव हमको यह साफ सबक़ दे रहा है कि भलाई बेफायदा नही जाती और कोई बुराई बेसजा नहीं, फिर चाहे वह तन की हो, वचन की हो, मन की हो या आत्मा की। सजा मिलने मे देर हो सकती है, पर मिलती जरूर है।

अफलातून सजा को दवा समझते थे। और गलती, भूल, बुराई को बीमारी। उनका कहना था कि बदमाश को सजा देना इतना ही जरूरी है जितना बीमार को दवा देना।

जो लोग यह समझते हैं कि हर बुराई की सजा ईश्वर देता है, उनका सजा के बारे में अजब खयाल है। वे सजा को लॅगडी बुढ़िया समझे हुए हैं। ईश्वर का हुक्म पाते ही वह लॅगडाती हुई चल देती है। देर-सवेर बदमाश तक पहुँच ही जाती है।

हर बुराई की सजा मिलती ही है, चाहे वह ईश्वर की तरफ से मिले या उसके तैनात किये राजा की तरफ से या समाज की तरफ से। यह खयाल ऐसा खयाल है जो हमारे दिल को बेहद तसल्ली देता है। हमें खुद भी सजा देने में बडी आसानी मालूम होती है। दिल ठण्डा हो जाता है और ऐसा मालूम होने लगता है मानो सचमुच हमने जादू कर दिया। सजा पाने वाले का चेहरा हमको साफ ऐसा कहता हुआ लगता है कि बुराई उससे एकदम काफूर हो गई और हमने, सिर्फ हमने, उसको शैतान से फरिश्ता बना दिया। यही वजह है कि सजा देवी हमारे मन मे आसन जमा बैठी है। उनकी सलाह हमारे लिए फिर यही होती है कि तुम कानून बना दो कि हर बुराई की सजा मिलेगी ही और उन्हीं देवीजी का फिर यह भी कहना है कि बुराइयाँ एकदम रुक जायँगी। वह सजा की सख्ती पर इतना जोर नहीं देतीं, जितना सजा के लाजमी होने पर। देवी जी न सजा की किताब (पीनलकोड) की मुटाई देख पाती हैं और न जेलखानों की गिनती गिन

पाती हैं।

सजा देवी के मुँह मे होकर उनके पेट के अन्दर झाँका तो वहाँ फाँसी का रस्सा और फूलो का हार दोनो दिखाई दिए। मैं चकरा गया। मैने पूछा—यह फूलों का हार आपके पास किस लिए? बोलीं—तुम अपना दुश्मन मारो तो गले मे मैं डालती हूँ फाँसी का रस्सा, और अगर तुम राजा का दुश्मन मारो या समाज का दुश्मन मारो तो गले मे डालती हूँ फूलो का हार। यह सुनकर मैं दंग रह गया।

आदमी या आदमियों को मार डालने की सजा गले मे फूलो का हार!

ऐसे लोग आज भी मौजूद हैं जो 'ककड़ी के चोर को कटार की सजा' के कायल हैं। 'एक गोली से दस्त नहीं होता तो दो गोली दो' उनका उसूल है। होमियोपैथी की हल्की खुराक की तरफ़ उनकी निगाह ही नहीं जाती। झाड-फूँक से वह आदमियों को अच्छा होते देखते हैं, अपनी आँखो देखते हैं, पर उसमे वह कुछ नज़रबन्दी मानते हैं, छल मानते हैं। बुराइयाँ भलाई से दूर होती हैं, इस बात को तो वह सुनना ही नहीं चाहते, दोनों कानों पर हाथ धर लेते हैं। सजा, कड़ी सजा, तीरों की सजा, आधा गाड़कर कुत्ते छोड़ देने की सजा, जिन्दा जला देने की सजा ही उनको ठीक सजा जँचती है।

एक हैं—सजा के क़ायल हैं, दिल से कायल हैं, पर दिल रखते हैं मोम-सा। वह सजा को ईश्वर के हाथ सौंपकर भी सलाह देते हैं—किसी को सजा पाते देखकर हमको सुख नहीं मनाना चाहिए। हम जो लोगों की नजर मे बड़े भले है, काला दिल रखते हैं। एक दिन हमको भी सजा मिलेगी तब क्या दूसरे न हँसेंगे? किसी को डूबते देखकर हमको तरस ही आएगा और हम पर ईश्वर का रौब ही छायेगा।

कुसूर करना यानी समाज के किसी कायदे को तोड़ना। कायदा तोड़ने के लिए इच्छा-शक्ति को थोड़ा कडा करना पडता है। सजा देने वाला जब कुसूरवार को सजा देता है तब यही तो चाहता है कि उसकी इच्छा-शक्ति

लायम पड जाय और उसका ढीठ कम हो जाय। अब सोचना यह है कि या समाज के लिए यह भलाई की बात है कि वह अपने मेम्बरो की, जिन से वह बना हुआ है, इच्छा-शक्ति को कमजोर बनाये ? सजा का सजा पाने-वाले पर क्या असर होता है—उस तरफ से आँख फेर लेने से काम क्योंकर चलेगा ? सजा का नतीजा ज्यादातर यह हुआ करता है कि सजा पाने वाले की इच्छा-शक्ति और मजबूत हो जाती है और वह और भी जोर से बुराइयाँ करने में लग जाती है।

सजा को जो ठीक समझते हैं उनकी एक दलील, जो असल मे जबरदस्त नहीं है, देखने-सुनने मे बड़ी जबरदस्त मालूम होती है, यह है—'बदमाशी की ठीक ठीक सजा से सिर्फ़ बदमाश की बेइज्जती होती है।' इस दलील मे एक छल है, दलील देने वाले के सामने कुछ मिनटों का संसार है। वह दलील देते वक्त यह सोचता ही नहीं कि सजा के आगे-पीछे और क्या हो जाने को है। वह यह समझता है कि आग राख से ढक देने के बाद बुझ जाती है और ठण्डी हो जाती है, जो गलत है।

सजा के रिवाज ने समाज के मन की काया-पलट कर दी है। सजा दिये जाते वक्त समाज का मेम्बर, समाज से एकदम अलग पड़ जाता है। समाज सजा पानेवाले को अपने दिल से भुला देता है। सजा दिये जाते वक्त समाज सिर्फ़ यही देखता है कि बदमाश को बदमाशी की पूरी सजा मिली या नहीं और बदमाशी रुकी या नहीं। बदमाश से बदमाशी क्यों हुई इस बात से उसको कोई मतलब नहीं। बदमाश भी समाज का मेम्बर है, यह उसके ध्यान मे ही नहीं आता। भूल से हमारे हाथ की उँगली अगर गरम कोयला छू ले तो उससे हमे तकलीफ तो होगी, पर उँगली को हम सजा नहीं देते उसकी दवा करते है। समाज का मेम्बर समाज-देह की एक उँगली होता है। उसके साथ हम वैसा क्यों नहीं करते ? सजा की फिलासफी ही इसकी जिम्मेदार है।

मौत की सजा ने तो सजा की सारी भलाई का भंडाफोड कर दिया। सजा का मतलब है बुरे आदमी को भला बनाना, किसी काम का बनाना, समाज

के फायदे का बनाना। पर उसको मौत के घाट उतारकर यह सब काम तो नहीं हो सकते। फिर यह सजा क्या हुई ? एक आदमी से जो थोड़ी-बहुत भलाई होती थी वह भी रोक दी गई। समाज के हाथो मौत की सजा पाये हुए लोगो की कहानियाँ यह साबित करती हैं कि सजा की न सही, मौत की सजा की रग-रग में समाज की बुराई मौजूद है। एक मनचले इसका यो जवाब देते हैं—फाँसी देकर हम फाँसी पाने वाले को थोडे ही ठीक करना चाहते है, हम तो उसको फाँसी देकर किसी या किन्हीं और को ही ठीक करते हैं और आगाह करते हैं। खूब ! सुना है या शायद कहीं पढ़ा है कि कुछ उस्ताद राजा के लडके को पढ़ाने के लिए एक'पीटू लडका'भी रखा करते थे। राजा का लडका जब कोई कुसूर करता था तो पिटा करता था 'पीटू लड़का'। उस लडके के पिटने का असर राजा के लडके पर पडता था और वह कुसूर करना छोड देता था। यह बात सच हो सकती है और किसी कायर उस्ताद को ऐसी बात सूझ भी सकती है। पर राजा का लडका इस तरीके से सुधर जाये यह बात बिलकुल ग़लत है। असल बात तो यह है कि एक की सजा दूसरे पर दो असर छोडती है। एक यह कि कुसूर होशियारी से और छिपकर करना चाहिए, दूसरा यह कि कुसूर खुल्लमखुल्ला और ज़्यादा बहादुरी से करना चाहिए। दोनों ही असर समाज के लिए भले नहीं। यह बात गलत है कि सज़ा से न्याय की धाक जमती है, समाज की रक्षा होती है, या कुसूर करने वाले का सुधार होता है।

जैसे आम मे गुठली और गूदा दोनों रहना जरूरी हैं। और जैसे आम मे छोटी गुठली होती है तो गूदा ज़्यादा होता है, बडी गुठली होती है तो गूदा कम रहता है। ठीक इसी तरह आदमी मे बदी और नेकी दोनों रहती है। बदी कम होती है तो नेकी ज़्यादा और बदी ज़्यादा होती तो नेकी कम। नेकी के साथ बहादुरी बढती है और बदी के साथ कायरता। बहादुरी को सुख पहुँचाने मे मजा आता है और कायरता को दुःख पहुँचाने मे। कायरता की खुराक बदमाशी। बदमाशी को काबू मे रखने के घर जेलखाने। नेकी के फलने-फूलने के बगीचे मदरसे। यो मदरसे और जेलखाने एक-

दूसरे की कमी को पूरा करते हैं। निन्यानवे स्कूल है तो एक जेलखाना होगा, अठानवे स्कूल है तो दो जेलखाने होंगे, और सतानवे स्कूल हैं तो तीन! सरकार को जेलखाने का शौक होता है। सरकार जब पैदा हुई थी तब बुराइयाँ बहुत थीं। यों सरकार की आदत जेल-पसन्द बन गई है। सरकार अपनी समझ मे भलाई करती है, पर उसके काम से समाज की बुराई ही हो जाती है।

समाज ने, न जाने क्यों, सजा को न्याय का रुतबा दे रखा है और इस तरह उसका आसन सच्चाई से भी ऊँचा कर दिया है। सज़ा से अन्याय मिटता है यो सज़ा न्याय है। पर सजा से अन्याय मिटा कब? दो बाते समाज मे पूरी सच्चाई की जगह पाये हुए हैं जब कि उनमे पाँच-फी सदी सचाई भी नहीं है। एक यह कि दवा से बीमारी जाती है, दूसरी यह कि सज़ा से अन्याय मिटता है। सजा अपने-आप बुराई है और अन्याय है। वह अन्याय किस तरह मिटा सकती है? जलती हुई मोमबत्ती की लोय एक पतंगे को जलाती है, उस लोय ने बुराई की। हमने उसे सजा दी और एक दहकता कोयला उस लोय पर रख दिया। लोय बुझ गई, हुआ क्या? रोशनी मिट गई। जो सबके भले की चीज थी। पतंगा जल रहा है, मोमबत्ती पिघल रही है, अँधेरा बढ़ रहा है और हो सकता है कोई ठोकर खाकर उस दहकते कोयले पर ही गिर पड़े। यह है सज़ा, न्याय की बेटी या अन्याय की अंगरक्षक।

सज़ा की जड में हमेशा न्याय ही रहता है, यह बात ग़लत है। ज्यादातर बदले का खयाल रहता है। कानूनी सजा जो हाईकोर्ट के जज देते है उसमें भी खालिस न्याय नहीं रहता। उसमे तो बदले के अलावा और भी बातें रह सकती हैं। उन्हें जाने दीजिये। सिर्फ बदले को ही लीजिये। कभी-कभी किसी डाकू से सारा समाज तंग आ जाता है। हाईकोर्ट के जज तंग आने से अछूते नहीं रह जाते। उस वक्त डाकू को जो सज़ा दी जाती है उसमे न्याय का रत्ती-भर हिस्सा नहीं रह जाता। बेहद तकलीफ मिलने पर जो सजा दी जाती है, उसके पीछे कोरा बदला रहता है। घरों में बच्चो के साथ, स्कूलों में पढने वालों के साथ, मिलों मे मजदूरों के साथ, दफ्तरो में क्लर्कों

के साथ, रोज जो सजा मिलती है, उसमें बदले का हिस्सा इकावन फ़ी-सदी से कम नहीं होता। और वह सजा इन्साफ़ की बेटी समझी जाती है!

चोरी की सजा मौत तक पहुँचकर अटक गई, चोरी न रुकी! अब पीछे लौट रही है। आगे रास्ता नहीं। जो रास्ता है उस रास्ते सजा चल नहीं सकती। सजा की यह नाक़ाबलियत इस बात का सबूत है कि वह मुहब्बत, इन्साफ, दया, माफी से कोई रिश्ता नहीं रखती। प्रेम की चिकनी सड़क पर सजा के पाँव फिसल जाते हैं, वह गिर पड़ती है। एक क़दम नहीं चल सकती। सजा बेकार साबित हो रही है; पर लोग उससे चिपके हुए हैं और न जाने कब तक चिपके रहेंगे।

कुछ लोग इस हद तक पहुँच गये हैं कि कह बैठते हैं कि क़ुसूर में खुद सज़ा के बीज रहते हैं। जो बात कही, खूब कही। जरा आगे बढ़िये और कहिए—'क़ुसूर खुद सजा है।' ऐसा कहने से क़ुसूरवार सज़ा से बच सकेगा और हमें तो यही ठीक जँचता है। उँगली ने आग में जाने की भूल की और जली। अब तो क़ुसूर और सजा एक ही सिक्के के दो पहलू-भर रह जाते हैं। फिर सजा के मन्दिर, अदालतें और सजा भुगतने के घर, जेलख़ाने बेकार हो जाते हैं।

बहुतों की यह राय है कि सजा को असर वाली बनाने के लिए दो बातें ज़रूरी हैं। एक यह कि क़ुसूर से ज़रा भी घट-बढ़कर सजा न दी जाये। दूसरी यह कि किसी को बिना सजा के न छोड़ा जाये। बात तो बड़ी अच्छी है। हम समझते थे कि उन्होंने वह तराज़ू भी तैयार कर ली है, जिसके एक पल्ले में क़ुसूर रखा जा सकेगा और दूसरे में सज़ा; पर वह तराज़ू तो उनके पास न निकली। क़ुसूर और सजा दोनों ही ऐसी चीज़ें हैं जो तोली नहीं जा सकतीं। बिना सज़ा किसी को न छोड़ना ईश्वर के बस की बात हो तो हो, आदमी के बस की बात नहीं है। ईश्वर के बनाने वालों ने क़ुसूर की सज़ा से बचने की मोरी पहले ही तैयार कर रखी है। 'राम-राम' और 'अल्लाह-अल्लाह' कह कर किस सजा से नहीं बचा जा सकता।

शुरू-शुरू मे आदमी को आग बड़ी बुरी जँची होगी। वह जहाँ उसको देखता होगा मार डालता होगा; यानी बुझा देता होगा। यही हाल शुरू के चोर-डाकुओं का हुआ होगा। पर पीछे आदमी को अक्ल आई और उसने आग से खाना पकवाया और चोर-डाकुओं से अपना राज बढ़वाया। आदमी जैसे बडे काम वाले जानदार का सबसे बुरा इस्तेमाल है उसको मार डालना। समाज की इससे बडी नाक़ाबलियत और क्या हो सकती है कि वह अपने एक हिस्से से कोई फायदा नहीं उठा सकती! कुसूर को सजा न देकर या कुसूर को न ठीक कर कुसूरवार पर पिल पडना ऐसा ही है जैसे बन्द घड़ी को कूकने की जगह पत्थर से कुचल डालना, या सुस्त चलने वाली घडी को, काँटा सरकाकर ठीक करने की जगह समुद्र में फेंक देना।

एक ओर मदरसा है, जिसका अनोखा ही ख्याल है। उसका कहना है कि हम किसी को सजा इसलिए देते ही नहीं कि उसने कुसूर किया है, हम तो सजा इस बात की देते है कि वह फिर कुसूर न कर पावे। जो हो चुका सो हो चुका, उसका सज़ा कुछ बना-बिगाड नहीं सकती। उस मद-रसे का यह भी कहना है कि सज़ा मे न गुस्सा रहता है, न बदले का खयाल, न कुसूर करने वाले से नफरत, न और कोई बुरी बात। उसकी राय में सजा कुसूर की रोक-थाम में काम आती है। बात बडी अच्छी है; पर सजा देने वाले मे अगर गुस्सा नहीं है, घमण्ड नहीं है, फरेब नहीं है, बद्ले का खयाल नहीं है, तो यह सजा ही क्या होगी! उसका तो नाम ही सजा होगा और वह भी सिर्फ इसलिए कि कसूरवार को दी जा रही है। अगर एक माँ अपने कसूरवार बच्चे को गोदी मे लेकर बडे प्यार से पुचकारकर कहे—ना बेटा, ऐसा नहीं किया करते तो यह भी एक सजा है, पर ऐसी सज़ा को हम भी कब बुरा कहते है! अगर आप मुहब्बत के सब गुन ज्यों-के त्यो रहने देते है तो आप भले ही मुहब्बत को सज़ा के नाम से पुकारिये हमे कोई एतराज़ न होगा, पर मुहब्बत का डरावना और बदनाम-नाम सजा, आप रखते ही क्यों हैं? आप साफ कहिये कि कसूर के गरम पानी को प्यार की हवा देकर फिर ठंडे पानी में बदल देना।

कुछ अपने ही ढंग से सोचते हैं। वह कहते हैं—आदमी दिल और दिमाग दो का बना है। दिल भी कुसूर करता है और दिमाग भी। दिमाग़ के कुसूर की सजा समाज देता है, दिल के कुसूर की ईश्वर! लोक-परलोक में अक़ीदा रखने वालों का ऐसा सोचना ठीक है; पर उनको यह तो मानना ही पड़ेगा कि आदमी का हरेक कुसूर दिल और दिमाग़ दोनों की मदद से होता है। अब उसको यहाँ भी सजा मिलेगी और वहाँ भी! यह कहाँ का इन्साफ़ है! इन्साफ़ की हद पार कर सजा ग़ैर-इन्साफ़ी के दायरे में आ जायगी और फिर सजा सबकी नजरों से गिर जायगी। एक थप्पड़ मारने वाला एक थप्पड खाकर यह समझ नहीं सकता कि अब उसके लिए और कौन सी सजा बच रही, जो उसको ईश्वर के दरबार में मिलेगी और वह कौन देगा? और जो देगा क्या वह मुझे मारकर और कुसूरवार न बन जायगा? दूसरे के दरबार में यह नहीं हो सकता कि मैं उसका थप्पड़ खाऊँ, जिसका मैंने कुछ नहीं बिगाड़ा, नहीं तो इस लोक और परलोक में फर्क ही क्या रह जायगा?

जिस आदमी ने ईश्वर को ढूँढ़ा उसने ईश्वर की सजाएँ भी खोज निकालीं। आदमी में डर पैदायशी है और मरते दम तक रहता है। डर का और सजा का गहरा नाता है। डर सज़ा की याद करता है; पर जब वह आती है तब डरता है। उसका उस मोमबत्ती-जैसा हाल है जो सुबह की याद में घुलती रहती है; पर सुबह के आते ही उसे देख मर जाती है। डर की सज़ा के साथ इस अनोखे ढंग की नातेदारी से आदमी ने फायदा उठाया। ईश्वर की सज़ाएँ कायम कर वह बहुत सी दिक्कतों से बच गया। डर की वजह से आदमी का मन सज़ा के नाम से घबराने लगा और कभी-कभी तो उसके खयाल से ही बैठ जाने लगा। बे-सज़ा के मौत होने लगी है और होती रहेगी। अब यह बात तय कर दी गई कि ईश्वर भलों का तरफदार है, क्योंकि जो सजा से डरता है, वह कुसूर नहीं करता। और जो कुसूर करता है वह सज़ा से डरता है और डरकर अपनी सज़ा आप दे लेता है। इस बात में बड़ी सचाई है। फाँसी की सज़ा का हुक्म जिसको हो जाता है, वह

। वक्त से मरने लगता है; यानी सजा भुगतने लगता है। फाँसी लगने दिन तक वह पूरा मर चुका होता है। फाँसी तो मुरदे को दी जाती है। बात हम आँखों देखी कह रहे हैं। सजा ने हमारे मनों मे इतनी गहरी गह कर ली है कि अगर हम संसार से सजा का नाम मिटा दें तब भी वह ई सदी वहाँ बनी रहेगी।

कुछ जुर्म और सजा को एक डाली मे लगे फूल-फल बताते हैं। वह जुर्म को फूल मानते हैं। फूल की खुशबू की तरह हर जुर्म मे आदमी को मजा आता है और यह सच बात है। जुर्म में कुछ मजा न हो तो कोई करे क्यों? और उसी फूल मे फल के बीज की शक्ल में सजा छिपी रहती है। जुर्म का फूल गिर जाता है, सजा का फल लगा रह जाता है और बढ़ता रहता है। यह बात बडे ढंग से कही गई है; पर इस उसूल से न ईश्वर सजा देने वाला रह जाता है; न सरकार, न उस्ताद और न माँ-बाप। यह कहकर तो सजा का अन्त ही कर दिया और यह तो हम चाहते ही हैं।

हमारी राय मे सजा से बुरी और कोई चीज नहीं। यह आदमी की आदमियत को खा गई। उसकी ही नहीं, जिसको यह मिलती है, उसकी भी जो इसको देता है। अन्तरात्मा की पुकार को अगर कोई बाहर जाने से रोकता है तो यह सजा है। जमीर को खुदा की राह चलने से हमेशा सजा ने रोका है। हमारे अन्दर बैठे ईश्वर का दम यही घोंटती रहती है। अगर सजा न होती तो एक युग, एक अवतार या एक रसूल ही पैदा करके न रह जाता। वह हजारों-लाखों को जन्म देता और यह दुनिया देवनगर या फरिश्ताबाद में बदल गई होती।

सजा बुराइयों की डाट है। जिस आदमी में तुमने डाट लगाकर बुराइयाँ रोक रखी हैं उनमें से कभी भलाई फूट निकलने की उम्मीद तुम कैसे रख सकते हो? उसमें से जब भी कुछ निकलेगा वह बुराई ही होगी। सजा देकर आदमी के नेकी मे लग जाने की उम्मीद करना बबूल बोकर आमों की फसल की उम्मीद करने-जैसा है।

आदमी कुसूर करने के बाद अन्दर की तरफ़ देखता ही है और वह

जो अपना सुधार करता है वह किसी सजा या सजा के खयाल में नहीं हो सकता। बच्चा कोई नुकसान करने के बाद जब बाप का थप्पड खा लेता है तो नुकसान के बारे में सोचना बन्द कर देता है। यही आदमी का हाल है।

इस बात की सच्ची जानकारी होनी ही चाहिए कि कब सुधार की जरूरत है और कब प्यार की। यह जानकारी मुश्किल से मिलेगी; पर होती है बढ़िया। और बढ़िया चीज के लिए थोड़ी मुश्किल उठाना बुरा न होगा।

अगर आप सजा दिये बग़ैर नही रह सकते तो आइए, हम आपको एक बहुत बढ़िया सजा बताते हैं और यह सजा सब सजाओ से बढ़कर अपना असर रखती है। हमारी आजमाई हुई है और वह है यहः—

कुसूरवार को उसी पर छोड दो।

यह कहा जाता है, इनाम से नेकी के पौधे को पानी मिलता रहता है। सोम—रस हम नही जानते क्या चीज थी। हाँ, यह पता लगा कि उसे पीकर वेद के ऋषि वेद ऋचाएँ लिखते थे। लिखते होंगे! आज भाँग पीकर बहुत से कवि ईश्वर के भेद की कौड़ी ले आते हैं तो वह सोम-रस के जरिये क्यों न सीधे ईश्वर से बाते करते होंगे। शराब पीकर बढ़िया फ़ैसले लिखने की बात इलाहाबाद-हाईकोर्ट के एक जज की सच्ची है। शराब की और बहुत-सी तारीफे है। शराब की चुस्की से बरतानिया और अमरीका रानी की आँखे लाल रहने की वजह से वह सारी दुनिया को पसन्द आ गई है। शराब अक्ल को खराब करती है, यह बात अब कोई सुनना नहीं चाहता। इनाम का रिवाज लडको को कुन्द-जहन बनाता है, यह भी कोई नहीं सुनना चाहता। शराब की तरह इनाम का नशा चढ़ता है, आँखें लाल होती है, उनमे सरूर आता है और वह सब बाते होती हैं जो शराब से होती है। इनाम पाने के लिए लडके चोरी करते हैं, अपनी नेक-चलनी पर धब्बा लगाते हैं, तरह-तरह के वहमों मे फँस जाते है। हाँ, अक्ल भी बढाते हैं, पर वह इस काम की कि इनाम के हकदार न होते हुए हम इनाम कैसे पा लें!

जरूरत रानी को इनाम जवान जँचा। उन्होंने उससे शादी कर ली। पहला बच्चा हुआ नज़र, जिसका प्यार का नाम भेंट है। दूसरा बच्चा हुआ रिश्वत, जिसका प्यार का नाम घूँस है। तीसरा हुआ वज़ीफ़ा (सरकारी वज़ीफ़ा-खोरों ने बड़े-बड़े नाम कमाये हैं) जिसको पण्डित लोग पुरस्कार नाम से पुकारते हैं। चौथा हुआ दक्षिणा, जिसका प्यार का नाम दच्छना है। मतलब यह है कि इसने बहुत-से बच्चे जन डाले। इन औलादों मे इनाम की कितनी सिफ़तें रह गई हैं यह पता लगाना टेढी खीर है। उन्हे छोडिये, हमें इनाम से काम।

पहले इनाम पाने वाले ने जो नेकी की थी उसने इनाम की बात कभी नहीं सोची थी। अब भी जितने सचमुच इनाम के काम होते हैं उनमें काम करने वाला इनाम की नहीं सोचता। उसे वैसा करने की फ़ुरसत ही कहाँ होती है। डूबते को बचाने के लिए कूदने वाला इनाम की बात सोचने के लिए वक्त कहाँ पायगा? गुण्डे के हाथ में पडी अबला को बचाने के लिए जान पर खेलने वाला इनाम देने वाले को कहाँ ढूँढता फिरेगा? आगे लगे मकान मे से बिलखते बच्चे को आग मे घुसकर निकालने वाला किस इनाम के भरोसे पर कूदता है? इनाम देने वाले, इनाम पाने वाले मन को नहीं जानते और जान सकते भी नहीं हैं। पर अचरज तो यह कि इनाम पाने वाला भी अपने उस मन की याद भूल जाता है, जिस मन ने इनाम पाने का काम किया था। उस मन का एक कण भी उसे फिर वापस मिल जाय तो वह हरगिज़ इनाम न ले। दो बड़े कामों का इनाम शायद ही किसी ने पाया हो। हाँ, दो बडे काम करने वाले दो से ज्यादा एक शहर में मिल सकते हैं। मेरे कहने का मतलब यह है कि इनाम पाकर मन खुश तो होता है; पर बड़े काम करने की काबलियत अगर बिलकुल नहीं खो देता तो कम जरूर कर लेता है। राजा बनने से पहले के ऊँचे खयाल राजा बनने के बाद नहीं रह जाते। क्रामवैल और नेपोलियन की मिसालें मौजूद हैं।

चीन के सन्त काँगफू ने कितनी समझ की बात कही है कि 'जो दूसरो

की भलाई की इच्छा करता है, उसने अपनी भलाई तो पहले ही कर ली।' इसमें शक नहीं कि भलाई का फल भले पेड़ में ही लग सकता है। पेड़ फल देकर अपने में का बहुत कम हिस्सा दूसरों को देता है। इसी से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि भलाई करनेवाले का दिल कितना भला होता है। उतना भला दिल क्या इनाम पाने की सोच सकता है, या अगर मिले तो कभी ले सकता है ? पर मन मे एक बड़ी खराबी है। वह बादल की तरह जल्दी-जल्दी रूप बदलता है। अगर ऐसा न होता तो इनाम का रिवाज दुनिया में कभी न पनप पाता। दिल की कली जब खिलने लगती है तो वह खुशबू देना शुरू करती है। उसी खुशबू को लोग नेकी कहकर पुकारते हैं। इनाम की गरमी उस खिले फूल को कुम्हला देती है। नेकी करने के ठीक बाद तो सौ फीसदी इनाम के हकदार इनाम लेने से इन्कार करेंगे, पर इनाम तो बहुत देर में मिलता है। तब तक मन-बादल न जाने क्या रंग बदल चुका होता है! इसलिए वह इनाम लेने की हालत में आ चुका होता है। और यों कभी शरमाता-लजाता और कभी उछलता-इतराता उसे ले ही लेता है। पहले इनाम देने वाले का इनाम, मन की उमंग था। और शायद वह इनाम न रहकर नोछावर रहा होगा; पर अब तो इनाम रिश्वत का बाप बनता जा रहा है और लालच की गद्दी हथियाता जा रहा है। नोछावर मे इनाम की असलियत मौजूद है, पर वह तो नेकी करने वाले को नहीं मिलती, उसके सगे संबंधियों को भी नहीं मिलती। वह जिसको मिलती है उसे नेकी करने वाला जानता भी हो, यह तक जरूरी नहीं है। हमें तो नोछावर की माँ वह अरुचि या बेपरवाही मालूम होती है जो इनाम का काम करने वाले ने इनाम मे दिखाई होगी। इनाम था इनाम देनेवाले के मन की उमंग, वह बरसते पानी की तरह बादल को नहीं लौट सकता था, वह इनाम पाने वाले की बेपरवाही की छतरी से टकराकर गिर गया। उससे उसको क्या सरोकार और इनाम देने वाले बादल को भी क्या सरोकार!

इनाम कर्तव्य का मैल है। कर्तव्य करने वाला मन उसको फेंकेगा ही,

अपनायेगा कैसे ? पसीना मैल है, वह अन्दर रुक जाये तो दुःख देता है, निकल जायेगा तो सुख देगा। कर्तव्य करने वाला मन सौ फीसदी इनाम की ख्वाहिश (भगवान् कृष्ण की बोली मे फल की इच्छा) को मैल की तरह निकालता ही है और उसी और सिर्फ उसी ख्वाहिश के निकल जाने से उसे आनन्द मिलता है। और वह आनन्द इतना भारी और गहरा होता है कि कितना ही बडा इनाम उसका न तो पासंग हो सकता है और न उसकी तह को पहुँच सकता है। सूरज को किसी ने खुश होकर एक जलती मोमबत्ती इनाम मे दी, इसे सुनकर लोग जितने हँसेंगे उससे कहीं ज़्यादा हँसेंगे यह सुनकर कि वह मोमबत्ती सूरज ने इनाम में ले ली। हॉ, सूरज मावस का चन्दा बनकर वैसा कर सकता है और मन में यही तो सिफत है कि वह मई के दोपहर के १२ बजे का सूरज भी बन सकता है और भादों की आधी रात का चन्दा भी। ईश्वर ने आदमी को उधार ले-लेकर जीने के लिए पैदा नहीं किया, वह तो तुरन्त दाम चुकाता है। यह गलत है कि वह मरने के बाद कुछ देता है। वह नेकी का बदला उसी वक्त देता है और इतना ठीक देता है कि कभी किसी को शिकायत नहीं हुई। शिकायत तो एक तरफ हमने हरेक से यही सुना कि इतना बदला मिलता है कि सँभाले नहीं सँभलता। नेकी करने के बाद नेकी करने की खुशी मिलने मे इतनी ही देर लगती है जितनी दिया जलने और रोशनी होने मे। आज साइंस यह दावा करती है कि चाहे जहॉ, चाहे जब मेह बरसाया जा सकता है, क्योंकि हवा में पानी सब जगह मौजूद है। ठीक इसी तरह ईश्वर की नेमतों, बरदानों, बरकतों के बादल, सब जगह सब वक्त छाये रहते हैं। नेकी करने वाले जैसे ही नेकी करते हैं कि वह बरस पड़ते हैं। ऐसी दुनिया मे इनाम को कहॉ जगह रह जाती है ? झाड़ू देते-देते सफाई हाथ लगती जाती है, फिर इनाम कैसा ! पढ़ाते-पढ़ाते अक्ल बढ़ती जाती है, इनाम कैसा ! तुम्हारे मुल्क वालों को कोई और मुल्क वाला मोटा-ताजा कर दे तो तुम रिवाज के मुताबिक उसको इनाम दोगे या नहीं और अगर तुम खुद उनको मोटा-ताजा कर लो तो तुम इनाम पाओगे या नहीं ? फिर और इनाम की तरफ क्यों

आँख लगाये बैठे हो ?

इनाम हमारे लिए बला साबित हुआ है। इसको मिटाना ही होगा। अगर यह जिन्दा रहना चाहता है तो नोछावर की शकल मे ही रह सकता है।

आदमी का जमीर यानी अन्तरात्मा सच्चा है, भला है और सुन्दर है। सजा सचाई को खा जाती है, भलाई और सुन्दरता को धक्का पहुँचाती है। होड़ भलाई को खा जाती है, पर सुन्दरता मे मदद करती है और सचाई को छेड़ती नहीं। इनाम सुन्दरता को खत्म कर देता है, भलाई को मैला कर देता है और सचाई मे लहरे पैदा कर देता है। सबसे बुरी सजा, उससे अच्छा इनाम और सबसे अच्छी होड़।

होड़ चीज तो अच्छी है; पर भलाई खा जाने का ऐब तो उसमें है ही। होड़ मे घमण्ड तो रहता है; पर बहुत ही अच्छी किस्म का। पर घमण्ड अन्दर-ही-अन्दर रहता है, बाहर नही आता। असल में उस घमण्ड का ताल्लुक अन्दर के गुणो से है। हमारे अन्दर के किसी दूसरे गुण को देखकर घमण्ड करना ही होड कहलाता है। यह बात न समाज के लिए बुरी है और न एक के लिए। कछुवे और खरगोश की दौड़ की कहानी किसने नहीं सुनी ! कछुवे ने होड़ नहीं लगाई थी, होड़ लगाई थी खरगोश ने और हारा भी वही। होड की असलियत क्या है, यह इस कहानी मे कूट-कूटकर भरी हुई है।

होड में सबसे बड़ा ऐब यह है कि आदमी बाहर अनेक काम कर आता है और इससे फौरन तो फायदा दिखाई देता है; पर आखिर मे वह सारा काम टोटे का काम ही दिखाई देता है। एक मशीन के जरिये मुर्गी के अण्डो से बच्चे जल्दी पैदा कर लिए जाते है; पर वह इतने अच्छे और काम के थोड़े ही होते है, जितने वह बच्चे जो ठीक वक्त लेकर पैदा होते हैं।

ऐटम-बम होड़ की ईजाद है। वह अमरीका के लिए कुछ दिन भले ही काम का साबित हो; पर सब आदमियों के वह काम का साबित नहीं हो

सकता। होड़ की सभी ईजादें आदमी का नुक़सान कर रही है और करती रहेंगी।

होड बड़े काम की चीज है अगर वह काबू में रखी जा सके; मगर वह तो तुरन्त काबू के बाहर हो जाती है। होड का भलाई-बुराई से इतना ही ताल्लुक़ है जितना दौड़ने वालों को पूरब-पच्छिम से। उनको दौड़ने से काम। किधर ही दौडने का हुक्म दे दो। होड भी किधर ही को चल पड़ सकती है।

होड मे एक और ऐब है—वह जल्दी ही नशीली चीज बन जाती है और अपने मालिक पर काबू कर बैठती है।



: ४ :

सुख-सड़क के सूल

[१]

पहला सूल यह है कि हम हैं, अकेले हैं, पैदा अकेले होते हैं और मरते अकेले हैं। हम पैदा होते ही पुत्र हैं और पुत्र हैं तो हमारे कुछ फ़रज हैं। पाल-पोस परवान चढ़े कि पति हैं। पति के और भी बड़े काम हैं। प्यार-प्यार मे पता न पाया कि कब पिता हो गए! अब तो हमारी जिम्मेदारी बेहद बढ़ गई और वह भी अचानक। हमारी जरूरतें, हमारे चाहे अनचाहे, बढ़ती ही गईं। हमारी ख्वाहिशें जरूरतों से दो क़दम आगे ही रहीं। सच्चे-पुत्र, पति या पिता बनने की जरूरतें कभी कम न हो पाईं और उन ओहदो का फरज जैसा हम चाहते थे कभी अदा न कर पाए। हम समाज के भी हिस्से हैं, यह बात सोचने का तो हमको दम ही न मिला। एक के नाते जितना-जितना मिलता है, मिलता गया; उतना-उतना ही हमारा बोझा बढ़ता ही गया। हम सुख चाहते हैं और जी से चाहते हैं। सुख कैसे मिलता है, उस तरीके का हमें पता है, पर पा नहीं सकते।

क्यों?

वक्त नहीं मिलता। ईश्वर सुखी है; क्योंकि वह नित कुछ-न-कुछ सिरजन करता रहता है। हम भी सुखी हो सकते है, अगर कुछ-न-कुछ सिरजन करना अपना स्वभाव बना लें। हम चाहते है कि मशहूर हो जायँ। उससे हम अमर हो जाएँगे; पर मशहूर होने की हवेली भी हम माँगे-ताँगे

के ईंट-गारे से खड़ा करना चाहते हैं ! हमारा बुरा हाल है। ख्वाहिशें हमें एक तरफ खींचती हैं और दोस्त, रिश्तेदार, समाज दूसरी तरफ। हम हैं कि बीच मे रस्से की तरह खिंच रहे हैं। साथिन की जोर की चाह से मजबूर होकर हम समाज के जाल में ऐसे फँसते हैं कि जिस सुख के लिए फँसे थे, उसी को हाथ से खो बैठते हैं।

इस जाल से निकलने का एक ही इलाज है :—अपनी जरूरतों को कम करना और एक-एक जरूरत को अपनी सिरजन-कला के बल पर सँभालना और उसी के जरिये पूरा करना। यह तो याद रखना ही चाहिए कि अपने को सुखी बनाकर ही औरों को सुखी बनाया जा सकता है। सुखी आदमी ही सुख बाँट सकता है, दुःखी नहीं। सुख, सुखी के बाँटने में आ सकता है, दुखी के बाँट मे नहीं। रोता या रूठा बच्चा मिठाई पाकर फेंक देता है। हँसता बच्चा अपनी ओर उस फेंकी हुई मिठाई को भी गप मुँह मे रख लेता है। सुख दौडता ही सुखी की तरफ है। सुख का आनन्द सुखी ही ले सकता है। मिठाई का आनन्द हँसते हुए बालक को ही आता है। जैसे हम हैं, वैसे और भी है। दो 'हैं' टकरायें नहीं, इसी का खयाल रखना है।

सैकडों सोचते हैं कि सखी और सखा उनके लिए सुख सहेजे बैठे हैं। उन तक पहुँचे नहीं कि दे देंगे। जब वे उनके पास सुख नहीं पाते तो वे दुखी होते हैं। जिस बैंक में उनका रुपया नहीं, उस बैंक पर चैक काटना रुपया नहीं ला सकता। उसी तरह जिस दोस्त को उन्होंने सुख नहीं पहुँचाया, उससे वे सुख कैसे पा सकते है ? वे आराम पाने के लिए दोस्त बनते हैं, पर यह नहीं सोचते कि दोस्त भी तो आराम पाने के लिए उनका दोस्त बनता है। दोस्ती बदले का व्यापार है। जो दोस्त सुख नही लेता, वह उतना ही बीमार है, जितना वह दोस्त, जो सुख देता नहीं। जिसमें सुख देने-लेने की ताकत नहीं वह अगर उदार है तो असफल रहेगा, राज नेता है तो नाकामयाब रहेगा और अगर प्रेमी है तो अपने प्यारे का प्यार न पा सकेगा। हरेक, हरेक को दोस्त नहीं बनाता, क्योंकि हरेक, हरेक

को दोस्ती की नजर से नहीं देखता। जो एक-दो देखते हैं, उन्हीं से एक-दो, दोस्ती का नाता जोड़ते हैं। ऐसे आदमी मिल सकते है, जिनके सैकड़ो दोस्त है। पर वे वही होंगे, जिनके पास देने के लिए बेहद सुख है। सुख देने को किनके पास बहुत है? उनके पास, जो सफल गृहस्थ हैं, जो अपने बूढ़े मॉ-बाप, अपने घर के काम के बोझ से लदी पत्नी और अपने देवता सूरत और सीरत (स्वभाव) बच्चो को सुख पहुँचाते हैं। वही दोस्तों को भी सुख बॉट सकते है।

इन्सानी हमदर्दी और मुहब्बत के नाते हमसे आदमी-जात की खिदमत चाही जाती है; देश-प्रेम के नाते हमसे देश की खुशहाली के लिए मदद मॉगी जाती है; फरज और काम के नाते हमसे संस्थाओ को कामयाब बनाने के लिए कहा जाता है; पर यह नहीं बताया जाता कि हम किस नाते दोस्ती के पौधे को पानी दें? न बताने की वजह साफ है। ऊपर के सब कामों मे दोस्ती ही तो काम करती है। बस वहॉ दोस्ती का रस मठे की तरह बढ़कर इतना पतला हो जाता है कि इसमें दोस्ती का कुछ भी स्वाद नही रह जाता। सैकड़ो-हजारों की दोस्ती भी कोई दोस्ती है! स्कूलो, कारखानो, दफ्तरों और फौजो मे दोस्ती की इसी वास्ते मिट्टी पलीद होती है। दो आत्माओ के मिलन से दोस्ती का रस तैयार होता है; पर आज-कल की आपा-धापी में इस मिलन की फुरसत कहॉ? इसी वजह से मिलता है दोस्तों का झमेला। जिस होड के जंजाल में हमने अपनी जिन्दगियॉ फॅसा दी हैं, उसमें फॅसे हम एक-दूसरे को कभी ठीक-ठीक नहीं समझ पायेंगे, फिर दोस्त पाने की बात तो भूल जानी चाहिए। हम लाखों की आबादी वाले शहर मे रहते है सही, पर अकेले परदेसी जैसे! हम पचासो आद-मियो की भीड़ में गाड़ी के डिब्बे मे सोते जरूर हैं, पर ऐसे ही, जैसे एक कैदी अपनी अकेली कोठरी मे! होटलों मे दासियों के साथ खाकर भी अकेले खाने का मजा ले पाते हैं! मतलब यह कि चाहे सोयें, खायें-पीयें, खेलें-कूदें, नाचे-गायें, हैं अकेले-के-अकेले! यह है जिन्दगी की सबसे बड़ी सजा और यही है सबसे बड़ा दुःख। दुःख इक्का-दुक्का दोस्त ही बॅटा

सकता है, दोस्तो की भीड नहीं। दुःख रिश्तेदार ही बॅटा सकते हैं, रेल के मुसाफिर नहीं। सुख भी कई गुना बढ़ सकता है, पर दोस्तों और रिश्तेदारों मे बैठकर। दफ्तर, कारखाने, स्कूल, ये हमको दम कहॉ लेने देते है! न बात करने की घडी, न चन्द्र निकलने का क्षण, न सर उठाने का वक्त! दोस्ती के पौधे को पानी कौन दे? उसकी तरफ आँख उठाने का तो मौका ही नहीं मिलता। अब सुख मिले तो कैसे? आये तो किधर से?

हमें कमाल हासिल करने का रोग लग गया! ऑख बनाने यानी ऑख फोड़ने का कमाल! नाक बनाने यानी बेकार करने का कमाल! दॉत लगाने, नहीं-नहीं दॉत तोड़ने का कमाल! एक लफ्ज मे, जेब काटने का कमाल! और यही आजकल की साफ-सुथरी आत्माओं की मॉग है। तब दोस्त बनाने की किसे जरूरत! रहो अकेली कोठरी मे, खेलो ताश का इक्कल-खेल। याद रखो, कमाल, शोहरत, दौलत, कोरे घमण्ड नहीं है; पर तुमने घमण्ड बनाकर उनको अपनी सुख की सडक के बीच में डालकर सूल बना लिया है। चलो अब इन कॉटों पर और बीनों पदवियों की कंकरियॉ, नाम के ठीकरे और सोने-चॉदी के तिनके।

दोस्तो, रिश्तेदारों की खातिर अगर पदवियॉ छोडीं, नाम फेंका और पैसा तर्क किया तो भी काम न चलेगा। इसके बिना आजकल वहॉ भी तुमको कोई न पूछेगा।

तब?

जगाओ अपने भीतर बैठा कलाकार, जिसे कमाल के रोग ने अपने पॉव तले दबा रखा है।

समाज को सुगढ़ बनाने की समझ थोड़ी-बहुत सबमें है। पर उसे मौका तो मिले, उसे वैसा करने की आजादी तो हो, उसकी तरफ कोई ऑख उठाकर देखे तो, वह खुद भी किसी की तरफ ऑख उठा पाये तब तो वह भोंडी सभ्यता मे अपने हिस्से की सुघड़ाई पैदा कर सके! जो सच नहीं वह सभ्यता नाम वाली कोई और चीज है, सभ्यता नहीं। जो सुन्दर नहीं, वह भी सभ्यता नहीं और जो सुखदाई नहीं वह तो सभ्यता हो ही नहीं सकती।

माँ बनकर ही औरत सुन्दर होती है, सच्ची होती है, सुख देने वाली होती हैं। बाप बनकर ही आदमी सुन्दर होता है, सच्चा होता है। बाप से हमारा मतलब है बच्चों को पालने पोसने वाला बाप। माँ-बाप बनना। माने आगे चलने वाला बनना, हादी बनना, सुख इसी मे है। अन्धे को राह पर लगाकर पाँच बरस का बालक भी बाप के सुख का मजा ले लेता है। अन्धी, बुड्ढी भिखारिन का गिरा पैसा ढूँढ़ देकर पाँच बरस की लडकी भी मन में माँ-पने की गुदगुदी पा लेती है। आदमी का अपना भला इसी में है कि वह काबलियत से काम ले और समाज का भी भला इसी में है।

मिल-युग यानी कारखाने की खब्त ने सबसे बड़ा नुकसान यही तो किया है कि इसने औसत आदमी की काबलियत को कुचल डाला है और यों इसने सभ्यता-देवी को काना, बूचा और लूला-लँगडा बना दिया है। सुन्दर सभ्यता को भोंड़ी, भद्दी, बेकान, पूंछ वाली भैंस मे बदल दिया है। आज इक्का-दुक्का वह काम कर ही नहीं सकता, जिसको वह सबसे अच्छा करना जानता है। करना उसको वह पड़ता है जो मिल-मालिकों और कारखानेदारो को उससे कराना है। जी-लगती बात की, कि उस पर फटकार पड़ी, और फौरन उसे रोका गया। और अगर उसने कुछ इस वक्त तक बना डाला तो तोड-मरोड़कर ज्यो-का-त्यों कर दिया। उसको वही करना चाहिए, जो उसके मालिक को ठीक जँचे! एक आदमी को उत्साह का काम दे दिया जाता है और फिर उससे कहा जाता है कि तुम वह सिखाओ, जिसका सिखाना तुम ठीक नहीं समझते, या बुरा समझते हो! विज्ञानी बम बनाना मानव-जाति के भले की बात नहीं मानता, पर उसको बम बनाने के काम मे ही जोत दिया जाता है! कलाकार से तस्वीर बनवाई जाती है, पर लडाई की इश्तिहारबाजी की तस्वीरें! मूर्तिकार से मूर्तियाँ बनवाई जाती हैं; पर लुटेरों की! लिखने वालों से किताबें लिखवाई जायँगी, अखबार-नवीसों से अखबार लिखवाये जायँगे, पर इनमे बात वह रहेगी, जिसको लिखने वाला जी से नहीं चाहता! टकसाल-ज्वालामुखी से निकला चाँदी

। लावा इतना जोरदार नहीं होता जितना छापेखाना-ज्वालामुखी से निकला सीसे का लावा। मतलब यह कि सभ्यता के नाम पर आज सब-के-सब उस काम के करने में लगे हुए हैं, जिसे जी से वे बुरा भी समझते हैं। और दूसरी तरफ सब-के-सब उसे माने जा रहे हैं, जिसको उनके जी ने नहीं माना। सभ्यता की ऐसी उपज में जिसे सुन्दरता दिखाई देती है, वह सचमुच सुन्दर है, हम तो यह कहने की भी हिम्मत नहीं कर सकते।

जो हम अपने मामूली साधनों से देखें, सुनें, सीखें, उनके पकड़ने की कोशिश के बाद, जो कुदरती तौर पर हमारे हाथ लगे, वही सुन्दर होता है और उसी का नाम सुन्दरता है। सच्ची खूबसूरती उसी में मिलेगी, पर उसको तो पैसे के बल पर कारखानेदार और जबरदस्ती की बनी हुई सरकारें आये-दिन बेपरवाही से कुचल-कुचल मिट्टी में मिला रही हैं। ऐसे काम करा रही हैं कि आगे वह सुन्दरता कभी पनप ही न पाये। और जो चीज बदले में दे रहे हैं, वह है झूठी, झुलसी, मुँझलाई सुन्दरता, जिसकी हमारे जी से जुगत नहीं जुटती। हम करें क्या? उसमें हमारे सच्चे 'स्व' की सूरत कहीं नहीं सूझ पड़ती। हम उसे अपनाएँ तो कैसे अपनाएँ?

समाज कुछ चाहता है, हमारी अपनी आत्मा कुछ। दोनों एक कोना बनाकर चल रहे हैं और हर सैकिंड एक-दूसरे से दूर होते जा रहे हैं। अब हम क्या करें? क्या अपने मन की करें? क्या समाज के ही मन की किए जाएँ? क्या कोई समझौता कर लें, जिससे दोनों के सुख की राह निकल आए?

मन की न करना माने अपने को कुरबान करना और समाज को नुक्सान पहुँचाना। समाज की न करना माने समाज को कमजोर बनाना और अपने ऊपर भी आफत बुलाना। न अपने को कुरबान करो, न समाज को। बीच का रास्ता ठीक रहेगा। इसी में दोनों का भला है।

सिर्फ जीने के लिए नहीं, अपने 'अहं' के साथ जीने के लिए हमें यह करना चाहिए ही कि हम अपने को विकसाते रहें और समाज के सामने पेश करते रहें। जीने का यह मतलब तो होता ही आया है कि हम अपने पीछे

अपनी औलाद छोड़ जायँ। खाने-पहनने, सोने की तरह औलाद होना जरूरी है। हरेक के मन मे यह बात अच्छी तरह जमा देनी चाहिए कि उसका और समाज का, दोनों का ही जीता रहना जरूरी है। हम मे से कोई अगर ज्यादा काबिल बनने की जरूरत रखता है, वह वैसा जरूर बने। पर वह यह खयाल रखे कि उसकी वह काबलियत उसकी निरी अपनी न हो। उसकी जिन्दगी के सारे कामो पर उसका असर पडे जिससे सारे समाज को फायदा पहुँचे।

आजकल की हवा मे किसी भी बात पर हमारा कुछ भी बस नहीं रह गया। यही वजह है कि हम ज़िन्दगी के मामूली-से-मामूली कामो को भी भले आदमी की तरह नहीं कर सकते। हम भले होते हुए भी अपने कामों को भले आदमियो की तरह नहीं कर सकते। कारखाने के मालिक और इस तरह हमारे भी मालिक हमको भला आदमी देखना ही नहीं चाहते। मालिक को पैसा चाहिए, नाम चाहिए, ताकत चाहिए और उसकी इन ख्वाहिशो की वेदी पर हमारी भलाई की कुरबानी होनी ही चाहिए। और यही है आज की सभ्यता! जिन कामो के जरिये हम भले बन सकते थे और समाज को ऊँचा उठा सकते थे, उन्हीं कामों के जरिये आज हम अपने मालिकों के लिए पैसा कमाने मे जुटे हैं। खूब! हमारी राह का यह काँटा तो हटाना ही चाहिए। इसके हटे बिना हम दोस्ती-जैसी नायाब चीज नहीं पा सकते।

अपने सर पर से मालिक हटाकर, अपने मालिक आप बनकर, अपना खाना-कपड़ा आप जुटाकर ही हम सुख पा सकते हैं और सुख पहुँचा सकते है। पूँजीपति हमें पनपने न देगे। हम पिसते रहेगे और यह जान तक न पायेंगे कि हम पिस रहे हैं। आदर्श बदल कर, नई कथाएँ गढ़कर, रस्म-रिवाजों को कुचलकर ही हम सुखी हो सकते है और यही करना चाहिए। ऐसा करना ही सुख-सड़क के सूल समेटना है।

[२]

दूसरा सूल है कि हम जानदार हैं। खाना, कपड़ा, मकान हमें चाहिए

री। इन तीनों के हम पैदायश से हकदार हैं और थोड़ा-बहुत ये तीनों हमें मिलते भी रहे हैं। बड़े होकर हमको इस तरह रहना है कि हम अपनी यह तीनों जरूरतें आसानी से पूरी करते रहें। मेहनत से हम जी नहीं चुराते, पर मेहनत ही-मेहनत के हम नहीं बनना चाहते। हम कोरे जिस्म नहीं हैं। हममें आत्मा है, जो अपनी खुराक चाहती है। वह अपनी खुराक मुँह के जरिये नहीं खाती, मस्तक के जरिये खाती है। उसकी खुराक हाथों से नहीं जुटाई जा सकती। कान, आँख, नाक, जुबान से जुटाई जाती है। हाथ-पैरों को आराम मिलने से आत्मा का कुछ पेट भरता है। आत्मा का पेट भरने से हाथ-पाँव खुश होते हैं। उनमें जान आ जाती है और वे पहले से ज्यादा काम के काबिल हो जाते हैं। इसलिए और सिर्फ इसलिए हमारे कौमी पैसे का बँटवारा तीन कामों को ध्यान में रखकर किया जाय तो हमारी बहुत-सी जरूरतें मिट सकती हैं और ज्यादा-से-ज्यादा ख्वाहिशें पूरी हो सकती हैं और आत्मा को भी खुराक मिल सकती है। वह तीन बातें यह हैं:—

(१) हमें अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरों का मुँह न ताकना पड़े, यानी स्वाधीनता, आत्मा-निर्भरता, अपने पावों पर आप खड़े होना।

(२) ऐसा काम मिल सके, जिसमें हमारा जी लग सके।

(३) इन चीजों का पूरा पक्का टिकाऊ काम। ध्यान रहे कि हमको अपनी जरूरतें और ख्वाहिशें ही पूरी नहीं करनी। हमें ऐसी हवा पैदा कर देनी है, जिसमें हमारी आत्मा भी सुखी रह सके। इन तीन बातों के बिना हम दुनिया की सारी चीजों से घिरे रहकर भी दुखी ही रहेंगे।

एक आदमी जो अपने बाप से लाखों का धन पाता है उसकी तसल्ली उतने से क्यों नहीं होती? तसल्ली यों नहीं होती कि उसको इस बात की पक्काहट कहाँ है कि वह लाखों का धन उसके पास ही बना रहेगा और यह कि धन न रहने पर वह अपनी जरूरत की चीजें अपनी मेहनत से कमा सकेगा। उसे जी चाहा काम मिलने तक की भी पक्काहट नहीं है। यही वजह है कि वह लाखों होते करोड़ों कमाने में लग जाता है। वह अपनी

आँखों देख रहा है कि जरूरतें पैसे से ही पूरी होती हैं और हर कोई पैसा कमाने में ही लगा है। रह गये वे, जो ग़रीब घर में पैदा हुए हैं। वे तो पैसा कमाने मे लगते ही है और पैसा कमाने के माने होते हैं, अपने को वहाँ फँसाना, जहाँ जाने को जी भी नही चाहता। जो हमारा मुल्क हथिया ले, वह हमारा दुश्मन हुआ। पर पैसे की खातिर हमको उस दुश्मन की भी नौकरी करनी पड़ती है। उस नौकरी में सुख कैसा? और आराम कहाँ? पेट को लोग पापी कहकर कोसते है सही, पर पेट पापी है नहीं। पेट को पैसा कमाकर भरना पाप है। अनाज उगाकर उस अनाज को खाना और फिर पेट भरना पुण्य है, धर्म है।

अब रह गए वे लोग जो गिनती के लिहाज़ से बहुत थोड़े हैं; पर उसूल के बड़े पक्के हैं और ऊँची जिन्दगी बिताना चाहते हैं। वे आम लोगों के रास्ते चलना नहीं चाहते और यो अपना असली सुख खोना नहीं चाहते। पेट की खातिर नौकरी करना उनको नहीं जँचता। बड़ी-से-बड़ी नौकरी मे पक्काहट है और न छोटी-से-छोटी में। नौकरी हो और जी चाही हो; यह कभी हो ही नहीं सकता। नौकरी के बदले जो पैसे मिलते है वह उस काम के हिसाब मे बहुत कम होते हैं, जो हम करते हैं। वह असल मे उस स्वाधीनता के पैसे होते है जो हम जाने-अनजाने नौकरी करते ही मालिक के हाथ बेच देते है। स्वाधीनता को ही सुख नाम से पुकारा गया है। फिर सुख बेचने की बात ऊँचे दर्जे के आदमियों को कैसे पसन्द आ सकती है और वे कैसे स्वाधीनता बेचने वालों की राह चल सकते हैं?

आदमी दो तरह के होते हैं—एक मोल-पसन्द और दूसरे तोल-पसन्द। दुशाला मोल में भारी होता है और कम्बल तोल में। आज की दुनिया तोल-पसन्द बनी हुई है। तोल-पसन्द लोग खुल्लम-खुल्ला आदमी-जात की मेहनत को हड़प रहे हैं और आदमी-जात लुटती हुई भी आर्थिक गुत्थी का सुलझाव नहीं समझ पा रही है। तोल-पसन्दों के गले वह बात उतर ही नहीं सकती। तोल-पसन्द गिनती मे थोड़े हैं; पर भेड़-चाल चलने वाले रूढ़ि-पसन्द, तोल-पसन्दों के साथ है। इससे उनकी तादाद बहुत हो

जाती है। वे सब मिलकर रूढ़ि का राग अलापने लग जाते हैं और वे ही हर बुरी चाल को चलते रहने की बात जी से चाह सकते हैं। पर जिन आदमियों को अपनी राह अपने-आप बनाना आता है, वे रूढ़ि के मिट जाने में ही अपना और समाज का भला मानते हैं और मानते रहेंगे। आज के बाजार का निचोड़ है : बेचो और खरीदो। यही है आज के तोलों-पसन्दो के मगज की सूझ। यही है आज की आर्थिक-नीति और इसी का है जगह-जगह प्रचार। इस नीति में सुख कहाँ? सट्टा और सुख अँधेरे-उजाले की तरह एक जगह रहने वाली चीजें नहीं। सटोरिये को आत्म सुख ठुकराते झिझक ही नहीं होती। सटोरिया सिर्फ़ खाने और कमाने को काम समझता है। इतना ही नहीं, वह उसको बहुत ऊँचे दरजे का काम समझता है। सटोरिया नई व्यापार-नीति के नीचे दबा हुआ यह मानता रहता है कि वह व्यापार-नीति को अपनी पीठ पर सँभाले हुए है। हमें चाहिए सुख और सुख भोगने की समझ। इस सुख और सुख भोगने की समझ की खातिर हम सारे कारबार में उलट-फेर चाहते हैं और सारी तिजारत की शक्ल बदली हुई देखना चाहते हैं।

जब तक हम दूसरे के बताए काम में लगे रहेंगे और यों जब तक हम दूसरों से पैसा पाते रहेंगे, हम वैसे रहना न सीख सकेंगे, न रह सकेंगे, जैसे हम रहना चाहते हैं। और जब तक हमको ठीक रहना ही नसीब नहीं, हम आजाद कहाँ? सुख-सडक का यह दूसरा काँटा हमें हटाना ही होगा। पहले हम राजा-नवाबों के गुलाम थे, अब सेठों के, कारखानेदारों के हैं। सभ्यता भले ही तोल-पसन्दों के लिए है, हिरन की चाल दौड़ी चली जा रही है, हमारे लिए तो वह कछुए की चाल ही है। रूढ़ि-रानी के रथ के बैल हम, कानूनी देवी के किंकर हम, कण्ट्रोल देव के कहार हम, सैन्सर बहेलिये के शिकार हम! क्या इसी का नाम सभ्यता है? तोल-पसन्द जुटे हैं भाइयों के लूटने और ग़ुलाम बनाने में। उनको फ़ुरसत कहाँ कि वे यह सोचें कि सुखी जीवन क्या है?

भूसा और भूसी के लालच गाय दूध दुहा लेती है, अपने बच्चों को

ग़ुलामी के जाल मे फँसा देती है। घास-दाने की ख़ातिर घोड़ा पीठ लुडवाता और छाती छिलवाता है। दूसरो के बस मे आना, दूसरो के भरोसे रहना, अपना पैदायशी हक—आजादी—खोना है और फिर सुख तो खो ही जाता है। भूसी के बदले दूध लेना और घास के बदले सवारी यह इन्साफ नहीं है। यह ना इन्साफ़ी से भरा सौदा है। आज के अर्थ-शास्त्र की जड मे यह नामुनासिब सौदा मौजूद है और उसी सौदे के बल पर तै की जाती हैं तनख्वाहें और चीजों के दाम। कानून यह है कि लेन-देन उसी हिसाब से होता है, जिस हिसाब से लेन देन करने वाले दोनो दल, लेन-देन करने से इन्कार करने मे आजाद हों। यानी अगर बेचने वाले को बेचना ही है और खरीदने वाले को खरीदना ही है तब तो दाम ठीक लगेंगे। और अगर बेचने वाले को बेचना ही है और खरीदने वाले को खरीदने की जरूरत नहीं तो बेचने वाले को दाम पूरे नही मिलेंगे। या अगर खरीदने वाले को खरीदना ही है और बेचने वाले को जरूरत नहीं तो खरीदने वाले को दाम बहुत ज्यादा देने पडेंगे। आज दुनिया में ऐसी हालत पैदा कर दी गई है कि बेचने और खरीदने वाले दोनों के ही दोनो कभी पूरे आजाद नहीं पाये जाते। कहीं खरीदने वाला मजबूर है तो कहीं बेचने वाला। कारखाने वाले, कोठी वाले, सब तोल-पसन्द होते हैं। ये गिनती मे बहुत कम है, पर मुल्क पर वे इतने छा गये हैं कि उन्होंने अपने-आपको बेचने-खरीदने के लिए हर तरह आजाद बना लिया है और खुला हुआ कर लिया है। और दूसरी तरफ हैं हम, जो हर तरह से ग़ुलाम और जकड़े हुए हैं। एक बडी मुश्किल खडी हो गई है। या तो हम तोल-पसन्द बनें या उनकी ग़ुलामी करे। मोल-पसन्द बनने की सोचें तो कैसे सोचें? आजाद हुए बिना मोल-पसन्द बनना कैसा? इस वक्त सारी ताक़त तोल-पसन्दों के हाथ मे है। वे हमें चाहे जहाँ लगाएँ, चाहे जो काम लें, चाहे जिस तरह हमारा उपयोग करें। अब हमे यही चाहिए कि हम जोर लगाकर इतने आजाद तो हो ही जायँ कि अगर हमको उनकी नौकरी ही करनी पड़े तो हम अपनी शर्तें तो उनसे मनवालें, यानी हम यह काम करेंगे, इतना काम करेंगे और

इतना लेंगे।

बड़ी बात तो यह है कि हम मोल-पसन्दों की तोल पसन्दों को हर घड़ी बहुत जरूरत रहती है। उनके कारखाने हमारे बगैर एक मिनट नहीं चल सकते, पर हमको अपनी ताक़त का पता नहीं। हमारी इस अजानकारी से वे खूब फायदा उठाते हैं। अगर आज हम हिम्मत करके कह दें कि हम तुम्हारा काम नहीं करते तो कल कारखाने वाले हमारे वश में आ जायँगे। और इतने ही वश में आजायँगे जितने आज तक हम उनके वश में थे। असल मे हम उनके वश में थे नहीं, हम तो सिर्फ़ वैसा समझे हुए थे। वह सचमुच हमारे वश में हो जायँगे और वह यह बात आज भी जानते हैं। पर यह सोचने-समझने से नहीं होगा, यह होगा अपने को थोड़ा-बहुत अपने पाँव पर खड़ा करने से। यह काबलियत हम में तब ही आ सकेगी जब यह सचाई हम अपनें गले उतार लें कि पहले एक, पीछे समाज, और यही सच्ची बात समझ की है और अक्ल की है। एक-एक बूँद से तालाब बनता है, यह सच है। पर यह भी सच है कि एक-एक गन्दी बूँद से गन्दा तालाब बनता और एक-एक साफ बूँद से साफ तालाब बनता है। सभ्यता आदमी के लिए है आदमी सभ्यता के लिए नहीं। तुम्हारी समझ में तुमको जो काम सब से अच्छा और मन-जँचता मालूम हो, तुम उसी काम मे लग जाओ। उसी के जरिए तुम एक-न-एक दिन इस क़ाबिल बन जाओगे कि दुनिया के सभ्यता-भण्डार मे अपनी देन छोड सको।

जिस आर्थिक निज़ाम में हमे जरूरी आराम की चीजें न मिलें, जिसमें हमे अपनी मरजी का काम न मिले, जिसमें हमे यह भी हक न हो कि हम उस काम के करने से इन्कार कर सकें जो हमारी मरजी के खिलाफ है—वह निज़ाम कैसा ? वह न हमारे काम का, न समाज के।

सभ्यता दिन-पर-दिन भोंडी होती जा रही है। वह सुघड़ तभी हो सकती है जब हम उनके लिए एक रास्ता निकाल दें जो ऊँची जिन्दगी बिताना चाहते हैं। उनको अपनी कामनाओं के विकास और प्रकाश का पूरा मैदान

मिलना ही चाहिए। तब ही तो वह दुनिया को आगे बढ़ने का रास्ता दिखा सकेंगे।

तोल-पसन्दों को पीढ़ियों, सदियों, युगों तक यह न सूझेगा कि सुख को टाले जाना बुरी चीज है। उनके अपने लिए भी बुरी चीज है। -तो क्या हम सुख का तरीका अपनायें ही नहीं? हमें पता है कि नये और ऊँचे विचार जल्दी जगह बना लेते हैं। यह दूसरी बात है कि वह देर से फलते और फूलते हैं।

जैसे-जैसे हमारा रहन-सहन ऊँचा-ऊँचा उठता चलेगा वैसे-वैसे ही हम सुखी होते चले जायेंगे और वैसे-वैसे ही सभ्यता का भोंडापन कम होता चला जायगा।

सुख-सडक का आर्थिक शूल हटाना ही होगा, अगर सच्चा सुख पाना हमने तय कर ही लिया है।

[३]

तीसरा काँटा है हमारा तन। हाड़-मांस का कहकर उसे दुरदुराने से काम न चलेगा। खून-पीब की थैली बताकर उसकी खिल्ली उड़ाने से भी कुछ हाथ न आयेगा और नाक सिकोड़कर, मुँह बिचकाकर 'गू-मूत की टिलिया' कह डालने से भी उससे पीछा न छूटेगा। जीते रहने के लिए उसमें कुछ डालना ही होगा और निकालना भी होगा। दौड़ना-भागना भी होगा और लेटना-सोना भी। याद रहे, बेपरवाही से डालने-निकालने, काम करने और आराम करने से जीते रहने का सुख न मिलेगा। साँस न लेने की बेका-यदगी से जब तन तिलमिला उठता है तब खाने-पीने या सोने-जागने की बेकायदगी से वह क्यों न बबरा उठेगा? और आज हो क्या रहा है? न तन को ढंग की खुराक है, न ढंग का काम, न ढंग का आराम। जो उसको दिया जाता है इसका नाम तनख्वाह। नाम बहुत सुहाता है, पर जो उसके नाम पर मिलता है वह है बेहद घिनौना। तनख्वाह के माने हैं तन-चाहा यानी मन-चाहा, और मिलता है सख्त, सूखा, सफेद रुपया। न हाथ से टूटे, न दाँत से चबे। या फिर मिलता है बुरी तरह स्याही से लिथड़ा कागज़

का नोट। सुना है, उसे बकरी-गाय खाती हैं। आदमी खाते नहीं सुना। अनजान बालक भी उसे कभी-कभी मुँह में दे लेते हैं, पर ऐसा करते ही तुरन्त उनकी माताओं को दौड़ना पड़ता है और मुँह में से निकालना पड़ता है। मतलब यह कि तनख्वाह के नाम मिलने वाली चीजें तन मे डाले जाने काबिल नहीं होतीं। इतना ही होता तो बुरा न था। पर उन ठीकरों और काग़ज़ के टुकड़ो ने खाने-पहनने की चीजो को ऐसा नचा डाला है कि कुछ तो उनको बेहद खसोट लेते हैं और बहुत-से बिलकुल थोडा और कभी-कभी कुछ भी नहीं पाते और खिसियाकर रह जाते हे! या फिर इन्हीं ठीकरो और कागज के टुकडो के घेरे से कुछ तो उस चक्कर में चट जा पहुँचते हे और बहुत-से प्रयत्न करके भी वहाँ नहीं पहुँच पाते! नतीजा इसका अब यह हुआ है कि कुछ को छोडकर सभी तन को तपा रहे हैं। आराम नहीं पा रहे हैं। सबको जो थोडा-बहुत मिलता है, उससे उनको सुख नहीं मिलता। दुःख ही मिलता है; क्योंकि उनको सिखा दिया गया है कि इस तरह रहना चाहिए और जब बीमार पड़ो तो डाक्टरों के पास जाना चाहिए। पेटेण्ट दवाइयाँ खानी चाहिएँ।

और न जाने क्या-क्या करना चाहिए। हमें अपने तन के बारे मे न जाने क्या-क्या बातें बता रखी हैं। वह बताने वालों के लिहाज से चाहे कितनी ही सच क्यों न हों, हमारे लिए वे बिलकुल बुरी और गलत साबित हो रही हैं। उनमें से कुछ तो वही हैं, जो कथा-पुराणों में लिखी है और हमारे पुरखों से चली आ रही हैं और बहुत-सी वैसी ही और गढ़ ली गई हैं। जिनको खाना-पीना, पहनना-रहना ठीक-ठीक नहीं आता उनको धडाधड लूटा जा रहा है।

तन को ठीक रखने की ठीक राह बताने वाली किताबो की कमी नहीं, पर उनको पढने की तकलीफ गवारा कोई नहीं करता और उनका वैसा शोर भी नहीं मचाया जाता, जैसा झूठी बातों का; क्योंकि वे कारखानेदारों के लाभ की चीजें नहीं। इतना ही नहीं, कारखानेदार उन अच्छी किताबो को यह कहकर कि इनके लिखने वाले बी० ए०, एम० ए०; या एम० डी०, नहीं

थे, आये-दिन बुराई करते रहते हैं। वह यह चाहते ही नहीं कि हम सीधे रास्ते पर आ जाएँ। वह तो हमको अपने रास्ते पर चलाकर ही हम से काम ले सकते है और हमे लूट-खसोट सकते हैं। जब तक हम कारखानेदारो के सिखाये काम सीखते रहेगे तब तक हम उन्हीं के कारखाने मे काम करते रहेंगे। जब तक उन्हीं के उठाये-बैठे हम उठते-बैठते रहेगे और उन्हीं के जगाये-सुलाये जागते-सोते रहेगे तब तक हम यह सोच-समझ ही या तय कर ही न पायँगे कि हम कैसे रहे, कैसे खायँ, कैसे पहनें, कैसे काम करें और कैसे आराम करें-?

जिन्दगी का सच्चा सुख पाना है तो ये 'कैसे' जरूर तय करने पड़ेंगे।

आज भी सभ्यता कारखानेदारों की दासी बन गई है और यही सभ्यता हमारी माँ बनी हुई है। इसने खिला-खिलाकर हमारे पेट खराब कर दिये हैं। किसी को क़ब्ज़ है तो किसी को हजम ही नहीं होता। किसी को बहुत कम भूख लगती है, किसी को लगती ही नहीं। इस माँ ने न जाने हमे क्या खिलाया है कि हमारी नसें सुन्न हो गई हैं। हमारा बदन गिरा जाता है। इससे हम उठते ही नहीं। हमें ही नहीं, हमारी नसल को बौना और बुज़दिल बना दिया है। हमारे लिए आये-दिन यही माँ अस्पताल, दवाखाने, कोढ़ीखाने और न जाने क्या-क्या खोलती जाती है। सुख पाने के लिए जितना दम चाहिए वह तो हम मिलो की भट्टियों मे फूँक चुके या दफ्तरों की कागजो से लदी मेज-रूपी वेदी पर बलिदान कर चुके! जो कुछ बचा है वह दफ्तरो और मिलों के काम करने के लिए जरूरी है, नहीं तो वह दम भी इस सभ्यता-डायन ने चूस लिया होता।

हमे भूख नहीं है। सभ्यता-माँ कहती है, "खाओ, बेटा, खाओ। देखो न, मिल की सीटी बज गई है और दफ्तर की घंटी हो गई और हाँ, स्कूल का टैम हो गया। हाँ, देखो कुछ साथ ले जाना न भूलना।" कितनी प्यारी माँ है! इसको तोल-पसन्दों ने डायन बना दिया है, इसको यह पता ही नहीं! मोल-पसन्दों से इसे पाला नहीं पड़ता और पड़े भी तो सुन लेगी, उनकी तारीफ़ कर देगी; पर उनके बताये रास्ते पर चलेगी

नहीं। तोल पसन्दो के सफेद ठीकरे और लिथडी धज्जियाँ इसकी आँखो मे ऐसी बस गई हैं कि अगर कोई इसको दस सेर दूध देना चाहे, या दस धज्जियाँ तो यह धज्जियाँ लेना ही पसन्द करेगी। दस सेर दूध को झंझट समझेगी, झंझट! वाह री माँ!

दुनिया-भर के समझदार कहते है, "धीरे-धीरे खाओ, चबा-चबाकर खाओ।" यह माँ है कि कहती है, "बेटा जल्दी-जल्दी खाओ। काम पर जाने का वक्त हो गया है। सीटी बज गई है। तोप छूट गई है।" घोड़े घुडसाल मे जल्दी मे होते हैं; पर इतनी जल्दी में नहीं। यही हाल बैलों का बैलखाने में। और लीजिए, "जल्दी खाओ, सिनेमा जाना है। क्रिकेट का वक्त हो गया है, फुटबाल का मैच शुरू हो गया होगा" वाह, कितना खयाल है इसको हमारे खेल का और सुख का!

पॉव से खुदी खॉड खाकर जितनी गरमी और तन्दुरुस्ती हम पा जाते थे, उतनी आज हम हाथ से न छुई हुई दानेदार शक्कर से नहीं पा रहे। न सही, वह हमे बीमार न डाले तो ही हम उसके गीत गा दें, पर वह अपनी उस आदत को भी नहीं छोड पाती। नानबाइयो का पकाया हुआ, खानसामाओं का परोसा हुआ, डाक्टरो का चखा हुआ, नौकरो के साफ किये बरतनों मे खाकर हम समझ बैठे हैं कि हम बढ़िया, खालिस, पवित्र, ज़ायकेदार, तन्दुरुस्त बनाने वाला खाना खा रहे हैं। क्या कहना है! हमको पता ही नहीं कि गेहूँ की जान निकाल दी कारखाने की भभकती चक्की ने, गन्ने की जान निकाल दी कारखाने के दहकते कोल्हू ने, और दूध की जान निकाल दी सिर-चकराई कारखाने की रई ने। कारखाने के क्रीम-सने बिस्कुट और फैशन को दूसरी चीज़ें, डाक्टरो, हकीमों और अत्तारों के पास पहुँचाने के पासपोर्ट हैं। क्यो? जिन्दा मशीन के पुर्जे बिगड जाने पर उनकी मरम्मत तो करानी ही पडती है।

हजारो में से कोई एक रसोइया ही खाना बनाकर माँ की तसल्ली कर सकता है। जिसको बचपन से ही खाना बनाना आता है वह भी वही रसोइया हो सकता है, जो घर का ही आदमी हो और हर तरह से सुख-दुःख

का साथी बन गया हो। खाये एक घर, बनाये दूसरा घर; खाये एक मुहल्ला, बनाये दूसरा; खाये एक मुल्क, बनाए दूसरा; यानी खपाये कोई और पैदा करे कोई; तब तो किसे तसल्ली हो सकती है ! सब समझदार कहते है कि ताजा पिसा आटा खाओ, पर यह सभ्यता-माँ सात समन्दर पार आटा पिसवा कर मँगवाती है और हमे खिलाती है और बड़ी बात यह कि उसी मे तसल्ली मानती है ! आज की सभ्यता एड़ी-चोटी का जोर इस बात मे लगाये हुए है कि अनाज, आटा, रोटी, फल, दूध, दही जैसी चीजें बरसो रह सकें और सडने-गलने न पायें। तन इसी काम मे जुटा है, मन और मस्तक भी यही करते रहते हैं, सारी साइंस इसी काम में लग गई है और लुत्फ यह कि इसकी जड़ में कोई भलाई नहीं है ! है तो यह बुराई कि सडी चीजें भी बिक जाया करें। बिक्री का है इनको मर्ज, स्वाद, जायके, लज्जत, ताकत से इनको क्या गरज़ !

हम सवा-सौ की जगह पच्चीस पर उतर आये हैं और वह पच्चीस भी हमारे दाँत उखडवाने, आँख जँचवाने और दवा खा-खाकर जीते रहने में गुज़रते हैं।

झाड़-फूँक को झाड़ फेंका, जन्तर-मन्तर की जड काट दी, यह सब तो ठीक किया; पर यह क्या किया कि उनकी जगह दे दी दवा दारू को। हकीम, डाक्टर, वैद्य, अत्तार सभी जानते हैं कि वे कुछ नहीं करते। जो कुछ होता है—परहेज, आराम, मुनासिब खाने से। बीमारी का इलाज है ठीक-ठीक रहना न कि ठीक-ठीक दवा करना। पुराने ओझाओ को मिटाया तोल-पसन्दो यानी बहुत पढ़े-लिखे और बहुत पैसे वालों ने। और डाक्टरों, हकीमों और वैद्यो को मिटायेंगे, मोल-पसन्द यानी समझदार, ज्ञानी, भले आदमी, बेलौस, त्यागी, नंगे, भूखे—भिखमंगे नहीं।

पहले भूत आया करते थे। वह घर मे किसी एक को ही छेड़ा करते थे, सबको नहीं। एक को ही क्यों, यह कोई नहीं जानता था। न जानता सही, ओझाजी यह जरूर जानते थे कि वह भूत कहाँ किस पीपल के पेड पर रहता है और उसको क्या देने से वह जा सकता है ! वही उसको ले-देकर

भगा दिया करते थे। इस जमाने में वे भूत भागे नहीं कि जर्म्स (कीटाणु) नाम के बहुत छोटे-छोटे भूतों की तरह से ही आँखों से न दीखनेवाले उनकी जगह आ डटे! वे भी घर में किसी को नहीं छोड़ते, कभी किसी को, तो कभी किसी को। मार्के की है एक बात। भूत भी उसको ही छेड़ते थे, जो ठीक-ठीक खाता-पीता नहीं था, ठीक-ठीक नहीं रहता-सहता था। जर्म्स भी ऐसे ही को लगते हैं। आजकल के डाक्टर यह जानते हुए भी नहीं जानना चाहते कि ये जर्म्स नाम के भूत बदन में दाखिल होने से नहीं रोके जा सकते, भले ही साइंस कितना ही जोर क्यों न लगा ले और कितनी ही जर्मसंमार दवाएँ क्यों न तैयार कर ले! हाँ, ठीक-ठीक खान-पान और रहन-सहन वाले का यह जर्म्स कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। जो जानदार चीजें खाते हैं, मुनासिब तरीके पर रहतेहैं, आराम करते हैं, उनमें ठीक-ठीक खून बनता है, ठीक ठीक रग-पुट्ठे बनते हैं, ठीक-ठीक चरबी-मज्जा बनती हैं, ठीक-ठीक हड्डी-पसली बढ़ती है। उनमें जाकर जर्म्स परेशान ही होते हैं और पिट-कुटकर किसी रास्ते नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं।

जो काम हमसे लिये जाते हैं, वे सुख देनेवाले काम ही नहीं थका, देने और ऊबा देनेवाले भी हैं। मन उनमें लगता नहीं, लगाना पड़ता है। जहाँ हम काम करते हैं। वह जगह सुख की नहीं है। न वहाँ असली हवा पहुँचती है, न असली रोशनी। तन्दुरुस्त रखने वाली धूप की तो वहाँ पहुँच ही नहीं। हमारे काम में हमारे रग-पुट्ठे काम नहीं करते या कोई एक-दो काम किये जाता है, तो बाकी बेकार रहते हैं। हम इंजन की भट्टी के सामने खड़े कर दिये जाते हैं। इसलिए नहीं कि जाड़े का मौसम है बल्कि इसलिए कि हमारा काम ही इंजन में कोयले झोंकने का हो गया है! हमारे लिए दिन में किसी वक्त जून का महीना आ सकता है, और किसी वक्त भी दिसम्बर! कभी हम गिनती ही लिखे जा रहे हैं तो कभी हरफ ही। मानो हम फिर से पहली क्लास में दाखिल कर दिये गये हैं! मतलब यह कि हमें कोई आदमी समझता ही नहीं, मशीन का पुरजा समझता है! और वह भी ऐसा कि कहीं भी ठीक बिठाया जा सके।

बीच मे छुट्टी मिलती है, पर वह हमारी कितनी होती है, पता नहीं; क्योंकि उसके लिए हमने जो काम पहले से ही तय कर रक्खे होते हैं, वे भी नहीं हो पाते ! मतलब यह कि तन के सुख की खातिर जिस जाल मे हम फँसे थे, वह सुख न रहकर सुख-सडक का सूल वन गया है।

इस कॉटे को हटाकर हमे ऐसे कामो मे ही लगना होगा, जहॉ हम तन्दुरुस्त हो सकें और सुख पा सकें।

[४]

चौथा कॉटा हमारे रास्ते मे यह है कि हम ऐसे बने-है कि अकेले जिन्दगी नही विता सकते। जनम से मरने तक, यहॉ तक कि मरने के बाद भी औरों को सड़न से बचाने के लिए हमें समाज की जरूरत पड़ती है। बालक-पन मे हम पर समाज का इतना करजा हो जाता है कि हमे उससे बचकर भागने मे शर्म मालूम होती है। वह करजा भले ही क़ानूनी हिसाब से कोई कीमत न रखता हो; पर जब हम भले आदमी होने का दावा करते है तब कानूनी कीमत से हमको क्या सरोकार ! हमारे लिए तो नीति कानून से कई गुनी वडी होनी चाहिये और वह है भी। हम हेल-मेली (सामाजिक) प्राणी होने के नाते, समाज मे रहकर साथियो का सुख भोगना चाहते हैं तो हमको उन कायदो, रस्म-रिवाजो का सामना करना पडता है जो उसने बना रखे हैं या जो उसमें काम मे लाये जाते है। समाज सीधे-टेढ़े यह चाहता ही है कि हम अपने नये या उससे न मिलते विचारो को उसकी रिवाज की वेदी पर कुरबान कर दें। समाज ने मिलकर, अलग-अलग नहीं, यह मान रखा है कि जो-कुछ अन-पहचाना, अनोखा, वह बुरा। और जो जाना-पहचाना, वह जरूरी और अच्छा। ऐसी ही एक और मान्यता है कि जो नया वह पुराने से बेहतर, इसलिए नहीं कि वह सच्चा, भला और सुन्दर है; पर इसलिए कि वह नया है। समाज के यह दोनों अक़ीदे हम खुशी से मान लेते अगर वह हमारी जिन्दगी के लुत्फ़ उठाने के रास्ते मे रुकावट न डालते होते, पर वह तो हमारे पैदायशी हक पर ही पहला वार करते हैं। मैं क्या मानूँ, मैं किस पर एतकाद रखूँ, मेरा विश्वास

क्या हो, मैं किस धर्म को अपनाऊँ ? ये बातें एक की अलग-अलग पूँजी हैं; समाज की नहीं, और न हो सकती है। अगर किसी वजह से समाज इस पूँजी को अपना ले तो 'एक' बेहद कमजोर हो जायगा और यों समाज भी ज्यादा ताक़तवर न रह पायगा। किसी रिवाज की सचाई, भलाई, सुघड़ाई समझाये बिना मनवाना एक तरह की जबरदस्ती है। बचपन से जबरदस्ती सहने की आदत की वजह से हम बड़े होकर भी सह लेते हैं और चूँ-चपड़ नहीं करते। पर यह आदत अपने-आप में भली चीज नहीं; क्योंकि हम बड़े होकर न सच्चे सुख को खोज सकते हैं और न पा सकते हैं। समाज, जो हमको वह बात मनवाकर सुख देने का वायदा करता है जिसको हमारा जी मानने को तैयार नहीं, हमें कैसे सुखी बना सकता है ?

हमारी समझ में नहीं आता कि हम क्या करें ? अपने साथियों में रहने की खातिर हमको समाज के कायदे और रिवाज मानने ही पड़ते हैं। उनसे आये-दिन काम पड़ता है। उनके साथ रहना, खाना, पीना, खेलना, सोना सभी तो होता है। हम अपनी बात भी कह दें और साथी बुरा न मानें, यह कला भी सीखनी होती है। समाज की रूढ़ियाँ या बिलकुल बेतुकी रूढ़ियों की वजह से समाज को अगर हम छोड़ बैठें तो जिन्दगी का लुत्फ़ ही क्या रह जायगा ?

कुछ न सही समाज को खुश रखने के लिए ही हमको समाज के रिवाज अपनाने पड़ते हैं और समाज के अक़ीदे मानने पड़ते हैं। बहुत-सी तो ऐसी बातें हैं जिनका आजकल कोई काम ही नहीं पड़ता, पर अपनाना तो पड़ता ही है। अगर हम कभी अपनी नई तान छेड़ते हैं, जो उनसे बिलकुल मेल नहीं खाती, तो वह हमें रोकने के लिए कानून बना डालते हैं। उसकी वजह से वह भी दिक्कत में पड़ते हैं और हम भी। कभी-कभी इस झंझट से बचने के लिए और वक्त बचाने के लिए ही हम उनके रिवाज मान लेते हैं। समाज में अभी अटपटे विचारों की बरदाश्त जितनी चाहिए पैदा ही नहीं हुई और न वे लोग कभी पैदा होने देंगे, जिनके हाथ में आज-कल समाज है।

और वह रिवाज है भी ऐसे कि खाने, पढने, उठने-बैठने मे उनका अगर कुछ मोल है तो इतना ही है, जितना हम कभी-कभी आँखों को धूप से बचाने के लिए पेशानी पर हाथ रख लेते है। छाया मे आते ही वहाँ से उसे हटा लेते है। वह रिवाज सारे-के-सारे इस काबिल है कि उन पर फिर विचार किया जाय। जो रोकने के काबिल हो रोके जायँ, बदलने के काबिल हो बदले जायँ, सुधार के काबिल हो सुधारे जायँ, रखने के काबिल हों जोरदार बनाये जायँ। अगर कोई रिवाज तोड़े तो उसके साथ पूरा-पूरा इन्साफ किया जाय और देखा जाय कि उसने उस रिवाज को तोडकर समाज का भला किया है या बुरा; या दोनो ही नहीं, सिर्फ अपना भला किया है।

रस्म-रिवाज एक तरह से साँचे है। एक एक को उन साँचों मे होकर निकाला जाता है और समाज की मरजी का बनाया जाता है। इन साँचो को समाज नही बनाता। बनाते है वह दो-चार, दस-बीस, या एक, जिनके या जिसके हाथ मे उस वक्त का समाज रहा होता है जिस वक्त वह साँचे बनाये गए थे। अब समाज कभी हुल्लड़ पसन्दों के हाथ मे होता है, कभी तोल-पसन्दो और कभी मोल-पसन्दो के। हुल्लड़-पसन्द तो साँचो को बनाते ही नहीं, या अगर बनाते हैं तो उनको चलने नहीं देते; उनका बनाना-तोडना इतनी तेजी से चलता है कि उसे बनाना कहा ही नही जा सकता। तोल-पसन्दो को इनकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है। वह इन्हीं के जरिये सब को काबू मे रखते हैं और उनसे अपनी मरजी का काम लेते हैं। वह उनको चूसते है और चुसने वाले खुशी से आगे बढ़-बढ़कर चुसने को तैयार रहते है! दुःख मानते हैं मगर चुसते रहते हैं! उनके मन मे उन साँचों मे होकर गुजरने से यह विश्वास पक्का जम गया है कि यह चुसना हमारे भले के लिए हो रहा है और हमें अब भले ही तकलीफ हो रही हो मरने के बाद बड़ा सुख मिलेगा। इन तोल-पसन्दो के काबू मोल-पसन्द नहीं आते। पर वह गिनती में इतने थोडे होते है कि अव्वल तो कुछ कर ही नही पाते, क्योंकि वह बहुत जन, धन, चेले-चपाटो के कायल नहीं होते, और अगर किसी एक को अपने विचार फैलाने की सूझ हो गई तो वह या तो जल्दी

खुदा के पास (जो तोल-पसन्दों का अपना बड़ा प्यारा मालिक है) भेज दिया जाता है या फिर तोल-पसन्द खुद ही उसके पक्के चेले बन बैठते हैं। फिर उसकी बात को वे आम लोगों तक नहीं पहुँचने देते या अगर पहुँचने देते है तो उसे अपने रंग मे खूब रंग देते हैं। ऐसा बहुत कम ही होता है कि दुनिया मोल-पसन्दों के हाथ मे हो। कभी-कभी वह अपने आप ही किसी मोल-पसन्द को अपना बड़ा मान बैठती है और यों कभी-कभी उसके हाथ मे भी आ जाती है। हाँ, उस वक्त जो साँचे बनते हैं वह सबके भले के होते हैं; पर वह भी उसी वक्त के लिए होते हैं, हमेशा के लिए नहीं। आज भी अगर रस्म-रिवाजों के साँचों की मरम्मत कराना हो या एकदम बदलवाना हो तो यह काम मोल-पसन्दों को सौंपकर ही ठीक हो सकता है। तोल-पसन्दों के हाथ में देकर भी आप बदलवा सकते हैं और वह खुशी से बदल भी देंगे; पर असली गरज उनकी वही बनी रहेगी जो पहले थी।

इसमे शक नहीं कि समाज आये-दिन अपने रिवाज और कानून बदलता रहता है और नये-नये साँचे गढ़ता रहता है; पर वह सब तोल-पसन्दों के बदले होने की वजह से अपनी खासियत मे ज्यों-के त्यों बने रहते हैं और समाज ज्यों-का त्यों गुलाम बना रहता है। समाज का नुकसान किये बिना हमें अपने ढंग से रहने की आज़ादी मिल ही नहीं पाती। हम समाज से कटकर ही वैसा कर सकते हैं, जिसमे जिन्दगी का लुत्फ आधा रह जाता है।

हम अगर कोई अपना ढंग हिम्मत कर या ढीट बनकर अपना भी लें तो मन यह डर मानता ही रहता है कि लोग क्या कहते होंगे। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमारे मन के डर का न हमें पता चलता है और न समाज को, पर अन्तरात्मा तो उसको मानता ही है। इसलिए हमारे कामों में अन्तरात्मा के हिसाब से कमजोरी रह जाती है। उस कमजोरी का असर हर घड़ी हमारी जिन्दगी पर होता है और जल्दी या देर से वह कमजोरी हमें भी खटकने लगती है। मुश्किल तो यह है कि हमारी सचमुच 'दो तन एक मन' वाली पत्नी भी समाज के रिवाजों से इतनी गुथी होती है कि वह हमारा साथ निभाते भी नहीं निभाती। यही हाल बेटे-बेटियों का होता है।

पत्नी कुछ कर बैठे तो पति साथ देते झिझकता है, और कब ? जब वह उनके काम को जी से ठीक समझता है। यही हाल बेटे-बेटियो के कर गुजरने पर बाप का होता है। हमें क्या पहनने मे सुभीता है, कहाँ रहने मे आराम है, क्या खाने से हम तन्दुरुस्त रह सकते हैं, कौन-सा खेल खेलें, इन जरूरी बातो में भी हम आजाद नहीं। समाज जो कहे वह पहनो, जहाँ कहे वहाँ रहो, जो बताये वह खाओ, जो खेल कहे वह खेलो। समाज की मरजी की बात न करे तो कहीं के नहीं रह जाते। वह हमें सिर्फ़ जात से बाहर ही नहीं कर सकता, वह तो यह भी कर सकता है कि हमारे कारोबार से भी अपना रिश्ता काट ले और हमें कहीं का न रहने दे। हमको सिर्फ हेल-मेल के लिए ही नहीं कमाने और पेट भरने के लिए भी समाज की रूढ़ियों को अपनाना पडता है।

अब यह तो समझ ही लेना चाहिए कि अपने पैरो पर आप खडे हुए बिना कोई ऐसा खेल खेल बैठना जो समाज के कायदों के एक दम खिलाफ हो कितना डरावना काम है! पर हमे हिम्मत मिली और किसलिए है ? सच्चे सुख की खोज मे उससे काम न लेंगे तो उसके हमारे पास होने का फायदा ही क्या ? हेल-मेल से रहने की कुदरती आदत का कॉटा तो रास्ते से हटाना ही होगा। कुदरती आदत तो छूट नहीं सकती और छूटनी चाहिए भी नहीं, उसे छोडकर न हम आदमी रह जायेंगे और सभ्यता तो फिर रह ही कैसे सकती है! हमे करना यह होगा कि एक छोटा-सा कुटुम्ब बनाना होगा जो अपने-आप में हर तरह से पूरा हो यानी अपना नाज-तरकारी उगा ले, अपने कपडे बना ले, अपने जानवर पाल ले और अपनी कुटिया बना ले। सच्चा-सुख उस कुटुम्ब मे बिना बुलाये आयेगा ही और उस सुख के दर्शन कर तुम-जैसे कितने ही कुटुम्ब तुम्हारे आस-पास कुछ ही दिनों मे अपने-आप आ खड़े होंगे। जिसमे ज़रा भी हिम्मत और अपनी समझ होगी वह तुम्हारी नकल किये बिना न रहेगा; पर तुम अपना कॉटा हटाओ और सुख पाओ।



: ५ :

डरे, वह जवान कैसा ?

डर भी सुख-सडक का सूल है। डर से सब डरते है। डर को सब बुरा समझते हैं। डर सुख का मज़ा नहीं लेने देता। डर में एक और भारी ऐब है, यह सुभाव की फूँक से फुटबाल की तरह फूलता चला जाता है। डर जानवरों मे भी है, पर सुभाव के मामले मे वह हमसे अच्छे हैं। उनका डर जितना है उतना ही रहता है, कम तो होता है, बढ़ता नहीं। किसी जानवर मे झूठा डर अगर समा जाय तो वह बना ही रहता है। मिसाल के लिए किसी सॉप को अगर आप लाल गरम लोहे की सीक से छुआकर डरा दे तो वह उमर-भर लाल रंग की लकडी से डरता रहेगा। मतलब यह कि डर के मामले मे जानवर हम से फिर भी भले हैं। डर लेकर हम जन्मे भी हैं और वह हम मे पैदा भी किया जा सकता है। यह मन का भाव है। मार्के का होने से नौ भावो की गिनती मे इसको जगह मिल गई है। माँ के पेट से जितना डर हम लाते हैं, वह हमारे बड़े काम आता है। हमे जीते रहने और बड़े होने में मदद देता है। डर ने हमको चौकन्नापन नाम वाला चौकीदार दे रखा है जो बड़ी होशियारी से हमारी देह का पहरा देता रहता है और पूरी वफ़ादारी से काम करता है। सब चोर-उचक्कों को रोकने मे तो यह बड़ा पक्का है पर सुभाव के साथ मामूली आवाज़ के रथ मे बैठकर जो चोर-उचक्के मन मे आ बैठते हैं उनको यह नहीं रोक सकता। चौकीदार होते उलटा उनसे डरने लगता है। मिसाल के लिए देवी-

देवता, भूत-प्रेत, सुरग-नरक, और हौआ-जैसी बातें हमारे मन में जम जाती हैं तो चौकन्नापन ढीला पड़ जाता है और चौकीदार होने पर भी डरने लगता है। कल्पना देवी उन सुझावों की गोलियों को बाजीगर की तरह दो की चार, चार की आठ करती रहती है। मन में डर का राज हो जाता है। मन के डर को दूर करना आसान नहीं। आसान नहीं है न सही, पर वह तो देह को बनाने की जगह देह को खाने लगता है। 'जो है ही नहीं' उसका डर बिठाना आसान है, पर निकालना बेहद मुश्किल है। उसको निकाले बिना असली सुख भी मिलना मुश्किल है।

'है नहीं' का डर निकालने का बल जिसमे है उसी का नाम धर्म है, सत्य है, दीन है। उसी को ईश्वर कहो तो हरज नहीं। पर ईश्वर की बात कही नहीं कि दुनिया का राजा ईश्वर तुम्हारे मन मे आ बैठता है और फिर उसका तख्त बन जाता है, ताज बन जाता है, शक्ल बन जाती है, दरबार बन जाता है और दरबारी भी। ईश्वर आया था डर निकालने और डर की ही पोशाक पहनकर जम जाता है। इसलिए हमारी सलाह मे उसका नाम धर्म या सत्य ही ठीक रहेगा। अब धर्म की बात सुनिए। उसको भी धर्म ही कहते हैं जो तरह-तरह के धर्मों ने 'है नहीं' को 'है' मानकर अपने-अपने सिद्धान्त बना लिये हैं और उसको भी धर्म कहते हैं जो तरह-तरह के धर्मों मे पैदा हुए सन्तों ने 'जिन्दगी बिताने के' सीधे-सच्चे रास्ते बता दिए हैं। अब धर्म दो तरह का हो गया—सिद्धान्त वाला धर्म और सच्चे रास्ते वाला धर्म। सिद्धान्त वाले धर्म को हम अफ़ीम की पिचकारी (इन्जेक्शन) मानते हैं और सच्चे रास्ते वाले धर्म को अचूक दवा, जो जरा देर मे असर करती है। बढ़ा हुआ डर है बीमारी। सिद्धान्त की पिचकारी बेहोशकर डर को भुला देती है या फिर डर को दबा देती है। दूर नहीं कर सकती न मुनासिब हद को पहुँचा सकती है। 'सच्चे रास्ते वाली' दवा डर को दूर कर देती है और डर को उतना ही रहने देती है जितना वह माँ के पेट से आया था और जो जीवन के लिए जरूरी है।

सिद्धान्त-धर्म से डरपोक को तसल्ली मिलती है, वह धर्म को अपनी

आदत बना लेता है और जब भी डर लगता है तो उससे काम लेने लगता है। जैसे भूत भगाने के लिए हनुमान-चालीसा पढ़ना या लाहौल पढ़ना। जिनमे न अपनी समझ है न सोचने की ताकत, वह और करे भी क्या ? सिद्धान्त-धर्म से एक और फायदा होता है। आदमी जिन्दगी की सैंकड़ो झंझटो से बच जाता है। उसे यह सोचना ही नहीं पड़ता कि मिरगी एक बीमारी है और इस वजह से होती है। उसके पास हनुमान-चालीसा है या लाहौल है। यों सस्ता छूट जाने वाला आदमी आखिर टोटे में ही रहता है। गलतियाँ सुलझाने से काम चलेगा, बचकर भागने से नहीं। वह तो कदम-कदम पर आएँगी और बढ़ती ही जायँगी। एक के सुलझाने से सुलझाना आ जायगा और वह हमेशा काम आएगा! गुत्थी को उलझा छोड़ना बुद्धिमानी नहीं। सुलझाने के झूठे तरीके अपना बैठना और भी बुरा। बचकर भागना सुलझाना नहीं हो सकता। कोई तरीका सिर्फ पुराना होने से सच्चा नहीं माना जा सकता। सच्चा साबित होने के लिए उसको कसौटी पर कसे जाने को तैयार रहना चाहिए।

अगर हम यह चाहते हैं कि हमारी जिन्दगी की हर घड़ी में से हमें सच्चाई, भलाई और सुन्दरता मिला करे तो हमको सब तरह के सिद्धान्त-धर्म ही नहीं छोड़ने होंगे, उससे पैदा हुए डर, पक्षपात, रस्म-रिवाज और आदतों को भी विदाई देनी होगी। सच्चा सुख और किसी तरह मिल ही नहीं सकता।

धर्म सबसे पहले हमें हवाई महलो में, हवाई जलसों में, हवाई फुलवारियों में, हवाई रसोई घरों में, हवाई मैदानों में ले चलता है। वहाँ महल मिलते है, पर आँख खोलकर देखो तो दिखाई नहीं देते। वहाँ राग है पर कान से सुनाई नहीं देते, वहाँ फूल है पर नाक उनकी खुशबू नहीं ले सकती, वहाँ मिठाइयाँ है पर जीभ उनको नही चख सकती, वहाँ ठंडी हवा है पर बदन को नहीं लगती। वह सपने की दुनिया है, वह खयाल की दुनिया है। वहाँ दरबार भी है और सब दुनियाओ का राजा भी वहाँ है।

मामूली सूझ-बूझ और विश्वास ही दोनों कुछ बचर लेकर चलते हैं,

कुछ ढंग के नतीजे निकालते हैं, कुछ करके दिखाते है। सवाल उठाते हैं, उनके जवाब देते हैं, शक दूर करते हैं। पर धर्म ? वह सवाल उठाएगा सौ, पर जवाब देगा एक। कुदरत दिखाकर कहेगा, देख लो ईश्वर की कारीगरी। ईश्वर दिखाई नहीं देता, कुदरत दिखाई देती है। क़ुदरत की बात पढ़-अपढ़ सब ही जोर के साथ सुन-बोल लेते है; पर ईश्वर की सुनते ही जबान बन्द हो जाती है या वह भी बहकी-बहकी बातें करने लगते हैं। आखिरी जवाब होता है 'तुम्हारी समझ का फेर है' यानी यह कि जवाब देने वाला बहुत अक़्लमन्द और जवाब सुनने वाला बिलकुल बेवकूफ है।

कुदरत की खासियत को ईश्वर की खासियत कहने से फ़ायदा ? हमारी राय में तो नुकसान ही है। नुक्सान यह है कि हम जाने अनजाने यह कह जाते हैं कि हम यह नहीं जानते कि क़ुदरत की खासियत क्या है ? ज्ञानियों को तो हमने यहीं कहते सुना है कि हम सब कुछ जानना तो एक ओर बहुत कुछ भी नहीं जानते। जितना ज़्यादा-ज़्यादा जानते जाते हैं उतना ही यह मानते जाते हैं कि हम पहले अगर हज़ार बातें नहीं जानते थे तो अब लाख नहीं जानते। उनका तो यह कहना है कि तालीम एक ऐसा सफर है कि उस रास्ते मे जितने आगे बढ़ो, अजानकारी के मैदान पर-मैदान मिलते चले जाते हैं।

ऊँचे दर्जे के आदमी अपनी जिन्दगी जब शुरू करते हैं तो सैकड़ों सवालों का हल वह नहीं जानते। उनके काम-चलाऊ जवाब सोच लेते हैं और आगे बढ़ते हैं। अपनी अजानकारी को कहने में उनको खुशी होती है; सिर्फ़ झिझक नहीं होती- इतना ही नहीं।

अजानकारी की अजानकारी लिए आगे बढ़ना न हो सकेगा।

ज्ञानी होने का पक्का दावा उनका ही होता है जो अजानकार होते हैं, रूढ़िवादी होते हैं या धर्म-सिद्धान्ती होते हैं। स्वर्ग या नरक को कौन राह गई, इसका पता तो उनको इतना पक्का याद हो जाता है जितना चिट्ठीरसा को डाकखाने का। ईश्वर से उनकी रोज बातें होती हैं, उसको मानने की बात ही क्या !

जो कुछ पूछता है, तरह-तरह की शंकाएँ करता है। वह अपनी अजानकारी को साफ कुबूल कर रहा है और यही रास्ता तो समझ की तरफ बढ़ने का है। ईश्वर को मान बैठना तो इस अजानकारी को मान बैठना है कि हम यह नहीं जानते कि प्रकृति का क्या स्वभाव है। ईश्वर को मान बैठना एक मजबूत रस्सी पकड़ना तो है पर वह रस्सी तो अजानकारी के खूँटे से बँधी हुई है। शंका की रस्सी सचाई के खूँटे से बँधी हुई है और वही 'सच' तो सब कुछ है।

पराधीनता और बीमारी से हम बचते हैं सिद्धान्त बना बैठना भी बीमारी है और पराधीनता भी। उससे भी बचना चाहिए। उससे बचे बिना सच्चा सुख नहीं मिलेगा। सिद्धान्त बना बैठने की बीमारी बड़ी तेजी से बढ़ती है और वह जिन्दगी के ही महल में जा पहुँचती है। इतना ही नहीं वहाँ जाकर अफसर की कुरसी पर जा डटती है। सिद्धान्त की जड़ में अनुभव एक, तो कल्पना निन्यानवे रहती हैं। इस वजह से सिद्धान्ती जगह-जगह सिद्धान्त खड़े कर देता है। एक विज्ञानी ईश्वर मानने से पहले एक नई इन्द्रिय यानी हवास गढ़ता है और उसका नाम रखता है 'धर्मेन्द्रिय।' बस अब उसकी दलीलें नया रंग ले लेती हैं। वह कहेगा, आँख न होने से आदमी देख नहीं सकता, इसी तरह 'धर्मेन्द्रिय' ठीक न होने से आदमी न ईश्वर को मान सकता है और न समझ सकता है। यह दलील लाखों को भा जाती है, हजारों को सोच में डाल देती है और सैकड़ों का मुँह बन्द कर देती है। हम दस-बीस ही टक्कर लेने वाले रह जाते हैं। यह ठीक है कि विज्ञानी ईश्वर की कल्पना काम चलाने के लिए करता है पर उसकी यह आदत विज्ञान के मैदान में भी पहुँचती है और वह वहाँ भी काम-चलाऊ सिद्धान्त गढ़ने लगता है। वहाँ उसका काम रुक जाता है और फिर सिद्धान्त बनाना निरी बीमारी और गुलामी रह जाती है। सुख के रास्ते का काँटा-भर रह जाता है।

यह सच है कि हम जब भी कोई राय बनाते हैं तब सोलह आने ठीक नहीं होते। लेकिन अगर हम कह बैठें कि हमसे भूल हो सकती है तब

1358

कट्टर-पन्थी हमको संशय-आत्मा यानी शक्की-मिजाज कहकर चुटकियों में उड़ा देते हैं। दूसरे लफ्जों में सचाई पर अमल करते ही हमे लोग अक़ीदे का कच्चा बताने लग जायँगे।

यह सच है कि हमारी समझ में उन तरह-तरह के ईश्वरो में से कोई भी ठीक नहीं बैठता, जिनको अब तक के समाज या समाजो ने गढ़ रखे हैं। पर जैसे ही हम एक अलग ईश्वर या ईश्वरो के होने से इन्कार करते है वैसे ही लोग हमको नास्तिक, काफिर कहकर, बहुत तादाद वाले ना-समझो की नजर में, नीचा कर देते है।

ऊपर की दोनों बातो से न हम बच सकते हैं न कोई और। क्योंकि हम सब किसी एक किस्म के ईश्वर को ही तो माने हुए हैं और साथ-ही-साथ दूसरी किस्म के ईश्वर के होने से इन्कार करते हैं या शक करते है। तब डरने से फायदा? यह बेजा डर सुख के लिए दूर करना ही होगा।

ईश्वर के मानने-भर की बात होती तो कोई दिक्कत न थी; पर मुश्किल तो यह होती है कि उसको मानते ही उसको खुश करना जरूरी और फिर उसके सिर दुनिया-भर की जिम्मेदारी थोपना जरूरी और न जाने क्या क्या। इस किस्म का एक सिलसिला ही खड़ा हो जाता है। पर मन है कि इसी रास्ते चलता है। इसको इस आसान रास्ते पर चलने की पुरानी आदत है और मीरास मे मिली है। इस रास्ते चलकर जिन्दगी की झंझटें जितनी जल्दी सुलझती हैं इतनी जल्दी दूसरे रास्ते चलकर नहीं। मन डाह का कुआँ, हसद का टीला, जलापे की भट्टी है; उसका गढ़ा हुआ ईश्वर फिर डाह का सागर, हसद का पहाड़, और जलापे का ज्वालामुखी होना ही चाहिए। अब कोई समझदार आदमी ऐसे ईश्वर को कैसे आँखे बन्द करके मान ले! अब समझदार सब जगह रहने वाले, सब जानकार (हाजिर, नाजिरकुल यानी सर्वव्यापी, सर्वज्ञ) ईश्वर को मानकर उनसे पीछा छुड़ाता है और इसी मे अपना भला समझता है। एक अलग समझदार उसके गले नहीं उतरता। आखिर पाँचों इन्द्रियों और मन का नाम ही तो शख्सियत है। उसके अगर यह पाँचों हवास और मन अलग कर लिये जायँ

तो फिर शख़्सियत खत्म हो जाती है। हम शख़्सियत यानी व्यक्तित्व की कुछ भी सिफत कायम करे, ईश्वर पर पूरी नहीं उतर सकेंगी। उन सिफ़्तो के साथ ईश्वर, ईश्वर ही न रह जायगा। मामूली आदमी से भी गया-बीता बन जायगा।

समझदारी और नेकी का भी यही हाल है। जानदार से अलग उसको सोचा ही नहीं जा सकता। समझदारी आदमी में है, उसकी मदद से वह गाली खाकर उठे गुस्से को काबू मे कर लेता है; दूसरे की बढ़ती देख मन मे उठी जलन को बुझा लेता है, तंग आकर चोरी करने पर उतारू मन को समझाकर उधर गिरने से रोक लेता है। किन्हीं दो आदमियो मे एक-सी समझ न होने की वजह ही यही है! दोनो पर एक ही बात का असर होकर एक-से खयाल पैदा नहीं होते। इसलिए कुदरत मे सारी समझदारी, नेकी एक जगह इकट्ठी हो जाने की बात भी नहीं बनती। नेक आदमी जब तक खुद बद न बने वह अपने प्यारो को न खाक में मिला सकता है और न तकलीफ पहुँचा सकता है और न बदला लेने की सोच सकता है। किसी आग लगाने वाले या कतल करने वाले के बारे मे यह सोच बैठना या कह उठना कि यह काम उससे कोई बेहद नेक शख़्सियत (ईश्वर) करा रही है, कैसे ठीक समझा जा सकता है ? और यही बात आये-दिन ईश्वर के बारे में कही जाती है। इस तरह सोचने की तह में, जड मे—डर है, झिझक है। यह झिझक सुख-बिस्तर की सलवटे हैं। जो ठीक नींद नहीं लेने देतीं।

डर का बेटा हुआ घमण्ड। हम अजर-अमर है या नहीं, यह सोचने की बात है; पर अजर-अमर का विचार घमण्ड की देन है, उसी की सूझ है। सुखी जीवन बिताने में यह अजर-अमर का खयाल बहुत खटकने वाला कॉटा है। हमारी छोटी-सी जिन्दगी इस खयाल से बेहद लम्बी हो जाती है। जिन्दगी अपने-आप ही बडी पाक चीज है। यह अजर-अमर का खयाल जीवन की पवित्रता को खा जाता है। तभी तो धर्मात्मा क़तल और ग़ारतगरी पर उतर आते है। 'जिन्दगी क्या है ?' यह खोज भी रुक जाती

है। जिन्दगी के अजर-अमर होने की बात वहीं ठस रह जाती है। हमारी हालत उन बच्चों-जैसी हो जाती है जो दिल्ली जाना सोचते हैं और खाट पर बैठे-बैठे यह मानकर कि दिल्ली आ गई वहीं बैठे रह जाते है और दिल्ली नहीं पहुँच पाते।

हमेशा रहने वाली जिन्दगी के साथ बुराई-भलाई मिलकर नरक-सुरग खड़े हो जाते हैं। बुराई से बचाने और भलाई मे लगाने के यह औजार मान लिए जाते हैं। समझदारों को यह दोनो अपील नहीं करते। नरक की ज्यादतियाँ और सुरग की बेकारी दोनों ही नासमझी की चीज है। आम आदमियो को वह ठीक जँची हों यह भी नहीं; क्योंकि दीन-धर्म के नाम पर किसी युग में कतल ग़ारतगरी की कमी नहीं मिलती।

दीन-धर्म को कुछ लोग तो सिर्फ ईश्वर की पूजा-बन्दगी और उससे प्रेम करना ही मान बैठे है। कुछ ऐसे भी है जो दीन-धर्म को नेकी और अच्छे चाल-चलन की बुनियाद मानते हैं; पर इस मामले में वह हवाला देते हैं किसी आसमान से उतरी किताब का या ऐसी किताब का जिसमे जो कुछ लिखा है वह वही है जो उनके बड़ों के कान मे ईश्वर आकर फूँक गया था। नतीजा यह होता है कि हर धर्म के रस्म-रिवाज, चाल-चलन, वहीं-के-वहीं जमे रहते है और उनमे से बदचलनी निकल आती है और तरक्की रुक जाती है। सब धर्मों के रिवाज-तरीके एक नहीं, कहीं-कहीं तो उलटे है। नफा इसी में है कि सिद्धान्त-धर्म से बचा जाय। सुख इसी मे है।

धर्म का सवाल हिन्दुस्तान में ही नहीं, सारी दुनिया में जरूरी बन गया है। दुनिया में सबसे जरूरी चीज हवा है। पर लोगों के मन ने धर्म को हवा से भी ज्यादा जरूरी मान रखा है। काम में लाने के लिहाज से धर्म का नम्बर बहुत पीछे पड़ जाता है और बहुत कम जरूरी चीज रह जाता है। काम जिससे ले रहे है उसे धर्म कहते शरम आती है। कुदरत धर्म को जरा भी महत्त्व नहीं देती। रिवाज धर्म की सबसे ज़्यादा जरूरत समझते है। रिवाजों का कहना है कि हमे छोड़ा और सजा तुम्हारे नाम लिखी गई

और मौत का दारोगा तुमको वहाँ ले जायगा जहाँ का हुक्म मिला है। गरज़ यह है कि धर्म के ग़ैर-ज़रूरी काम पर इतना जोर दिया गया है और दिया जा रहा है कि ज़िन्दगी के बेहद ज़रूरी सवाल 'हवा की सफाई' तक से धर्म मे मस्त अपनी आँखें फेर लेते हैं और हवा को गन्दा करते रहते हैं।

खाने-पीने का सवाल भी बहुत जरूरी है। उसकी तरफ़ हम नज़र ही नहीं डालते। काम हम सारा करते हैं, खाने-पीने के लिए, पर मन मे उस सवाल को जो जगह दे रखी है वह धर्म से कहीं नीची है। खाने के सवाल में जीने-मरने का सवाल है; फिर भी हम उस तरफ से बे परवाह बने हुए हैं।

सुखी बनने के लिए जरूरी सवालों को जरूरी समझने मे जरा भी नहीं झिझकना चाहिए।

मिसाल के लिए ईश्वर के सवाल को ले लीजिए। यह सवाल सबसे जरूरी मान लिया गया है। पर इसका जवाब सोचना हमारा काम नहीं बताया गया। वह काम हमारे लिए हमारे माँ-बाप करें। और उनके लिए उनके पुरोहित-मुल्ला करें और उनके लिए धर्म की किताबें करें। हमारा काम सिर्फ इतना है कि हम ईश्वर को मान लें। समाज ने कानून बना रखा है, ईश्वर को मानो, नहीं तो समाज बाहर। कुदरत को अगर ईश्वर की दासी मान लें तो वह ईश्वर का पता देने या उसको समझाने मे रत्ती-भर मदद नहीं करती। हाँ, धोखा खूब देती है। कुदरत नास्तिक के खेत मे पानी बरसा देती है, उसे लहरा देती है और आस्तिक के खेत में एक बूँद नहीं गिराती और रही-सही नमी भी सोख लेती है। वह खुदा के मानने या न मानने वाले मे कोई तमीज़ ही नहीं करती। ज्यादातर तो यह देखा गया है कि वह खुदा के न मानने वाले के साथ रिआयत करती है। मानो वह खुदा के खिलाफ बागी हो गई हो। उसके एक-दो नहीं, हज़ारों काम ऐसे होते हैं कि वह खुदा की गुत्थी को और उलझा देते हैं।

समझ मे तो साफ आता है कि ईश्वर का सवाल एक-दम ग़ैर-जरूरी है;

पर समाज ने हमको नकेल का ऊँट बना रखा है और नकेल सरकार के हाथों मे थमा रखी है। अब नकेल तुड़ाने से पहले हम अपना खाना आप जुटाना सीख लें और फिर नकेल तुड़ा लें तो सुख मिले।

अगर सचमुच हम जो कुछ हैं उससे ऊँचा उठना मंजूर है तो हमे चाहिए कि हम एक नई पूजा ईजाद करें यानी जिन्दगी की पूजा और वह यह कि जीवन बहुत पाक चीज है। इस पर ऐसा कोई धब्बा न लगे कि हमारा सुख ही हमारा दुःख बन जाय। धर्म अपनाना ही है तो ऐसा तो हो जो हमको सुख न दे, पर सुख पाने से रोके तो नहीं।

ईश्वर मानो; पर डरो ईश्वर से भी नहीं। डरे, वह जवान भी कैसा ?



: ६ :

बदलते डर कैसा ?

चाल-चलन मे हमको कुछ हक नहीं। उसमे अक्ल को दखल कैसा ? जो समाज कहे, जो राज कानून बना दे वैसे ही रहना ! यानी मन की उमंग का कदम-कदम पर दबाना। मन की उमंगों को तो हमारी समझ भी हर वक्त दबाए रखती है, पर उसके दबाव मे और समाज और कानून के दबाव मे बड़ा फर्क है। मिसाल के लिए बच्चे पर माँ का दबाव भी रहता है और गुरु का भी, पर माँ के दबाव मे बच्चा पनपने से नही रुकता। गुरु के दबाव मे पनपने से रुकता है। समझ का दबाव मन पर तन्दुरुस्त असर डालता है, पर समाज के बन्धन और कानून की अड़चन उसका (मन का) दम पी लेते हैं। वह उभर ही नहीं पाता। जब मन ही ठीक नहीं तब सुख कैसा !

अब हम ठहरे प्राणी और वह भी दस मे मिल-बैठकर जीने वाले प्राणी। हम अपने हर काम से किसी को रुलाते है, किसी को हंसाते हैं; किसी को दबाते और किसी को उकसाते हैं; किसी को डराते और किसी को उमगाते हैं। यह सच है कि हमारा छोटे-से-छोटा काम हमारे हम-जोलियों पर किसी-न-किसी तरह का असर डालता है, पर यह और भी ज्यादा सच है कि हमारे हमजोली हमारी नीयत को जानते हुए भी उसका वही असर मानते हैं जो उनको रिवाज ने सिखा रखा है। यानी हमारे सब काम हमारे और हमारे दोस्तो की नीयत की कसौटी पर नहीं कसे जाते, वह कसे जाते हैं

समाज के गढ़े हुए हुक्मों या राज के बनाये कानूनों की कसौटी पर ! जिसका साफ मतलब यह है कि हम और हमारे दोस्त, हम और हमारी संगिनी, हम और हमारे रिश्तेदार, हम और हमारे मेहमान, हम और हमारे हम-सफर तक वैसे उठें-बैठें जैसे समाज या राज चाहता है; न कि वैसे उठें-बैठें जैसे हम आपस में जब जहाँ जैसे तय करें। मिसाल के लिए, मैं और वे, जो मेरी जीवन-संगिनी बनना चाहती हैं, गृहस्थी की गाँठ में बँध लें और आग के चारों तरफ़ सात बार न घूमें तो समाज हम को थूकेगा, कानून हमको डरायेगा। भले ही हम आग को देवता न मानने वाले हिन्दू हों। इसका नतीजा यह होता है कि हमको समाज की राय और रूढ़ियों से जोड़ बिठाने में इतना जोर लगाना पड़ता है कि हम अपना सुख ही गवाँ बैठते हैं। इस मन-मार रीति-रिवाज की कीचड़ में भैंस की तरह आनन्द लेने वाले समाज पर जब तक हम अपने रिवाजों के लिए निर्भर रहेंगे तब तक सच्चे सुख से कोसों दूर रहेंगे।

न हमारी तकदीर खराब है और न हमारी अक्ल तदबीर सोच निकालने में किसी से कम है। पर कमी है इस बात की कि हमने अपनी मन की आँख (अन्तरात्मा या जमीर) को न तो अब तक पूरा पूरा खोला है और न उसको यह काम सिखाया है कि वे अपनी सोची तदबीरों को ताड़ लें और उनका नैतिक मोल कितना है यह भाँप लें। तदबीरें सोचे जाना और उनको काम में न लाना आजादी से सोचने-विचारने की ताकत को कम कर देता है। और फिर तदबीरें सूझना भी कम हो जाती हैं, या जो सूझती हैं वे निकम्मी होती हैं। तदबीर सूझती है काम के लिए, पर वे मन में ही नाच-कूदकर रह जाती हैं। जब हमारी तदबीर हम अमल में नहीं लाते तब भी उस काम को तो करना ही होगा जिसके लिए हमें वह तदबीर सूझी है। इससे अब हमको मजबूर होकर उस तदबीर से काम लेना पड़ता है जो समाज ने हमको बता रखी है। मिसाल के लिए हम समाज के कायदे तोड़कर एक विधवा से विवाह करना चाहते हैं। वह विधवा तैयार है, हमारे कुछ दोस्त भी तैयार हैं। तदबीर यह सुझाती है कि जो भी साथ हैं उनकी मदद से

खुल्लम-खुल्ला शादी की जाय। पर हमारा भीतर का मन उस शादी की नैतिक कीमत लगाता है सिफर से भी कम, क्योंकि उसको हमने कीमत लगाना सिखाया ही कब है ? तब समाज का रिवाज चट हमारे कान मे आकर कहता है कि इस विधवा को अपने यहाँ रोटी बनाने को नौकर रख लो और मौज करो। वह हमे और भी तरह-तरह की ऊँच-नीच सुझाता है। हमको उसकी बात अपनी तदबीर से ज्यादा कीमती जँचती है। हम सस्ता सौदा कर बैठते है और फिर आये-दिन रोते रहते है। अब हमारा इतना बुरा हाल हो जाता है कि हमारा मन दुर्बल होकर वैसे ही सोचने लगता है जैसे सोचकर समाज ने हमारे लिए रिवाज बना दिये है और तो और हम दूसरे कामों को भी रूढ़ि की कसौटी पर ही कसने लगते है और जिस तदबीर ने हमको कीचड से निकालने के लिए जोर लगाया था उसको धकेलकर पीछे पटक देते हैं। अब सोचिए हमे अपनी तदबीरे पटक-पटककर सच्चा सुख कैसे मिल सकता है ?

समाज तो हमको तभी खुश-इखलाक और सुचाली कहेगा जब हमारे सारे काम और औरो के कामो के बारे मे हमारे सब फ़ैसले वैसे ही होंगे जैसे समाज ने करने या बताने को बना रखे हैं। यह तो ठीक ही है। क्योंकि समाज और किसी तरह एक-एक को अलग-अलग अपने चुंगल मे अपनी मरजी के माफिक फँसा के नहीं रख सकता। जब कि एक-एक अलग-अलग अपनी मरजी से अपनी कुछ शर्तों के साथ समाज के चुंगल में फँसा है और समाज को कोई हक इस तरह दबाने का नहीं है। यह रूप कुछ तो ठीक है, पर जब एक अपनी शर्त ही भूल बैठा हो तो समाज क्यो याद दिलाये और अपनी ताकत को कम करे। इधर एक अपनी शर्त भूलता है तो उधर समाज अपने बलवान् बनने की कसरत भूल जाता है। उसको यह याद ही नहीं रहता कि एक-एक के बलवान् होने से ही समाज बलवान् बनता है। समाजो का इतिहास गवाह है कि इस समाज को उसी ने बलवान् बनाया है जिसको समाज ने शुरू में नालायक समझकर दुरदुराया था और दूध मे से मक्खी की तरह अलग कर दिया था। आज भी हर जगह वही हो रहा है और

होता भी रहेगा। न जाने क्यों इन सब से एक न एक सबक़ लेता है, न हिम्मत बाँधता है और न समाज सुधारने की सोचता है। एक तो यह समझ ही बैठा है कि मैं अच्छा हूँ, अगर समाज मुझे अच्छा कहता है। भले ही मैं झूठ बोलूँ, चोरी करूँ, लोगों को सताऊँ, मारूँ, काटूँ, चाहे कितना धन जोड़ूँ और ग़रीबों को चूसूँ, सिर्फ इस बात का खयाल रखूँ कि कोई काम रूढ़ि के ख़िलाफ़ न हो। उधर रूढ़ियाँ हैं कि उन्होंने सब तरफ़ सब तरह के दरवाजे खोल रखे हैं। रूढ़ियों में बँधे-बँधे भी हम सुचाली हो सकते हैं और दुखी भी हो सकते हैं। क्योंकि कोई रूढ़ि में फँसकर सुखी तो हो नहीं सकता; पर हाँ, हमें इतनी तसल्ली रहेगी कि हमारा जमीर यानी भीतर का मन समझता रहेगा कि हमने कोई गुनाह नहीं किया।

बेशक समाज हमको बदइखलाक और कुचाली कहेगा अगर हमारे काम, और दूसरे कामों के बारे में हमारे फ़ैसले, समाज की रूढ़ि की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। और अगर कहीं हमने उनके बनाये कायदे तोड़ डाले हों, तब तो वह हमको गुनहगार और मुजरिम समझ लेगा और उसको वैसा हक भी है। पर यदि हम उस बात को ठीक समझकर भी अपने-आप को गुनहगार समझने लगेंगे, तो गुनहगारी तो किसी को सुखी नहीं कर सकती—क्योंकि रूढ़िवादी भी कोई गुनहगार सुखी देखने में नहीं आया—तब हमारा बुरा हाल होगा। हम पाप के बोझ से दबे रहेंगे और न जाने कब तक दुःख भोगते रहेंगे। अब अगर हम उसी काम को अपनी समझ की चलनी में छानकर करते तो कम-से-कम पाप के बोझे से बच जाते, सिर्फ समाज की नजरों में ही गुनहगार रहते।

अब देखना यह है कि समाज के कानून की जड़ में ऐसी क्या चीज है जो उसको इस कदर मजबूत बनाए हुए है कि मज़बूत-से-मज़बूत और समझदार-से-समझदार आदमी भी न उसको हिला सकता है, न उसमें कोई बदलाव कर सकता है। वह पण्डावाद जिसको खोलकर यों कहा जा सकता है कि हमने धर्म और कानून की किताबों को हद से ज़्यादा सही समझ रखा है और यह भी समझ रखा है कि वह हर वक्त, हर मुल्क में हमेशा

हमारी ठीक-ठीक रहनुमाई करती रहेंगी, क्योंकि हमने यह मान रखा है कि वह ईश्वर या ईश्वर जितने जबरदस्त आदमी की कही हुई, लिखी हुई, बताई हुई हैं और यह कि उनको ठीक-ठीक पण्डे ही समझ सकते हैं। यह सब भी अगर हमने आज़ादी से समझा होता तब भी हरज न था, पर इतना भी समाज ने अपनी चालाकी से अपने सुभीते के लिए हमारे दिल पर बचपन में ही ऐसा उकेर दिया है जैसे कोई पत्थर पर लोहे की कील से उकेर दे। यह मिटाना मुश्किल है, पर मिट सकता ज़रूर है। यह खयाल दूर किये बग़ैर असली सुख का पता हमको न मिल सकेगा। दो काम के लिए तो हमको समाज से छुटकारा पाना ही होगा। उतनी आज़ादी के बग़ैर हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। वह दो बातें हैं:—(१) चाल-चलन से ताल्लुक रखने वाले सब कामों का मोल हम तय करेंगे। (२) और अपने मोल पर काम करने और काम चलाने के पूरे इख्तियार और पूरी ताकत चाहेंगे। हम पैदाइशी बदनीयत नहीं हैं। समाज की सोहबत से बदनीयत बने हैं। समाज ने भी हमको जान-बूझकर बदनीयत नहीं बनाया, पर अपनी नासमझी से हमको मुनासिब आज़ादी न देकर बदनीयत बना दिया है। हम जब नेकनीयत से एक बात सोचते हैं और फिर उस पर अमल करते हैं तो समाज हमको रोकता और सज़ा देता है तो हम बदनीयत बन जाते हैं या फिर बाग़ी हो उठते हैं। नेकनीयत से सोचने के काम भी जब हम नहीं कर पाते तब सुखी कैसे हो सकते हैं? और इस सुख की खातिर तो हम मचल उठेंगे और समाज के खिलाफ़ बग़ावत पर उतारू हो जायेंगे।

आदमी में मिज़ बैठने नाम की एक खासियत है। चाल-चलन उसी खासियत की हालत या हालतों का नाम है। जैसे पानी में प्यास बुझाने, ठण्डक पहुँचाने के नाम की खासियत है—पर बहना, जमना, हवा बन जाना उसका चलन है। खासियत, याने गुण अटल होते हैं। पर चलन हमेशा बदलता रहता है। चलन शब्द ही आप कह रहा है कि मुझे चलने और बदलने दो। खासियत और चलन दोनों मिलकर ही जान कहलाते

है। चलन को अगर अलग माना जाय, जो असल मे है नही, और उसकी कोई सिफ्त (बोल या परिभाषा) तय की जाय तो वह होगी, 'जो हर छन बदलता रहे वह चलन' मतलब यह कि चाल-चलन के कायदे बदलते रहने चाहिएँ। पर समाज है कि उनको बदलने ही नहीं देता। आज की रूढ़ियो के पास आज टिके रहने की कोई काबलियत नही है। उनका यह हाल है कि वह आप ही आपस में टकराती हैं। ईश्वर की इच्छा जैसे मानी नही जा सकती, ठीक वैसे ही चाल-चलन के मामले मे प्रकृति की इच्छा भी समझी नही जा सकती। चाल-चलन के अटल नियम न धर्म-शास्त्र रख सकते है और न साइन्स तैयार कर सकती है। हवा बदलने पर चाल-चलन बदलेगा ही; जैसे पानी गरमी मे उडेगा ही और सरदी में जमेगा ही।

पानी अगर बहते रहकर यह समझता है कि वह बेगुनाह है तो भूल करता है और अगर जमकर या उड़कर यह समझता है कि वह गुनाह करता है तो भी भूल करता है। ठीक इसी प्रकार आदमी अपने को गुनहगार समझकर उतनी ही भूल करता है जितनी अपने को बेगुनाह समझकर। भड़किये नहीं! बात यह है कि चाल-चलन के मामले मे जमीर यानी अन्तरात्मा एकदम खामोश रहता है, तभी तो बच्चा बेगुनाह कहा गया है। बच्चे का अन्तरात्मा बच्चे को कभी गुनहगार नही समझता, भले ही वह अपना पेशाब भी पी ले या कोई ग़लीज चीज मुँह मे रखले। उसकी बाहरी आत्मा ने चाल-चलन का न अभी खुद ही मोल लगाया है और न समाज के लगाये मोल को माना है। कोई काम ऐसा है ही नही जो अपने-आप मे पूरा नेक या पूरा बद हो। फिर अन्तरात्मा खामोश न रहे तो क्या करे। अब सुख इसी मे है कि हम अपने कामो का आप ही मोल लगाएँ।

दुनिया दिन-दिन नही, दिन के ही घण्टो में कई बार बदलती है। शाह अमानुल्ला की बेगम सुरैया बुरके मे सोई थी और बे-बुरके उठी थी। टर्की मे तो सारे मुल्क की औरतों के परदे की कायापलट एक रात

मे हो गई थी। और बिहार के जलजले मे क्या हुआ था! बिहार मे जिन औरतो ने अपने चाल-चलन का अपने-आप मोल आँका वे बच गईं और जिन्होंने समाज के मोल को ठीक समझा वे मिट्टी में दबकर मिट्टी बन गईं। जो यह समझता है कि उसका हर एक काम वैसा होता है जैसा पहले कभी हुआ ही नहीं, उसको अपने कामों का मोल आँकना सीखना ही पडता है।

अब यह पता चल गया कि रूढ़ि किसे कहते हैं और समाज क्या मंत्र फूँककर हमें अपने काबू मे करता है।

रूढ़ि चाल-चलन का वह तरीका या कायदा है जो यह कहता है कि किसी का कोई काम अनोखा नहीं होता। सब काम हमेशा वैसे ही होते हैं जैसे होते आये है और आगे भी वैसे ही होते रहेगे। समाज का मन्त्र यह है कि दुनिया हमेशा से एक ही चाल पर चल रही है और चलती रहेगी, उसमे कोई बदलाव नहीं होता। समाज ने रूढ़ि के जरिये यह तय कर दिया है कि यह काम बुरा, इसकी सजा मिलेगी या तुम खुद ही सजा ले लो। पर सचाई इसके खिलाफ है और साइंस गवाह है। सचाई यह है कि काम काम के सिवाय कुछ नहीं। वह अपने-आप मे अच्छा बुरा कहा जाता है। नतीजे को या फिर नीयत को कोई देख-सुन नहीं सकता और जान भी नहीं सकता। उसको करने वाला ही जानता है। यही वजह है कि समाज के बताये हुए बहुत-से बुरे कामों का नतीजा अच्छा होता देखा जाता है और उस ही के बताये बहुत-से भले कामो का नतीजा बेहद बुरा निकलता पाया गया है। दोनो की मिसालें बेहद हैं, सब जानते भी है, मिसालो का देना बेकार है।

ज्ञान चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है, समझदारी से काम लो, पर ना-समझ जनता रूढ़ि के चाल-चलन से चिपकी हुई है और समझदारी के कान बन्द किये हुए है। जिनके हाथ मे समाज है, उन पण्डो मे से बहुत-से जो नासमझ है, वह तो रूढ़ियो को ठीक समझते हैं और उनको जनता की तरह ही मानते हैं। पर जो पण्डे समझदार हैं और जो खुद रूढ़ियों को न ठीक

समझते हैं और न उनको काम में लाते है, वह लालच मे फँसे रूढ़ियों को ठीक बताते हैं और जनता को बहकाते हैं। यो रूढ़ियाँ जिन्दा हैं और समाज आगे बढ़ने से रुका हुआ है।

रूढ़ियाँ एक ही लकडी से सबको हाँकती है। इनमें न उम्र की तमीज़ और न अक्ल की! मिसाल के लिए, पाँच बरस के दुलहे को ऐसे ही सजाया जायगा जैसे २५ बरस के जवान को या ६० बरस के बूढ़े को। और तीनो जानवर बने कान-पूँछ हिलाए बिना सज लेंगे! भले ही उनका ज़मीर अन्दर से उनको कोंचता रहे! मजबूत कमज़ोर तक का ख्याल वहाँ नहीं है, ग़रीब अमीर का तो ख्याल ही कौन करता! इसका तो यह मतलब हुआ कि हम बच्चे से जवान होकर बदलते ही नहीं हैं और न अपढ़ को पढ़ा-लिखाकर बदला जा सकता है। फिर ग़रीब से पैसे वाले होकर तो हममें कोई फर्क आ ही कैसे सकता है! इतनी ग़लत बात जिस पर ज़रा भी अक्ल पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं, हमको क्यों ग़लत नहीं दिखाई देती? हम कैसे मान लें कि हम हम नहीं हैं? कौन नहीं मानता कि वह अपनी उम्र मे कितनी बार ऐसा बदलता है कि उसको अपने पर भी शक होने लगता है कि क्या यह वही है जो बचपन मे था या जवानी मे था? फिर भी वह उन रूढ़ियो को क्यों ठीक समझता है जो बचपन और जवानी में एक ही रहती हैं, या गरीबी-अमीरी मे बिलकुल नहीं बदलीं? रूढ़ियाँ हमारी समझ का मज़ाक उड़ाती हैं और हम समझ से काम लेना नहीं चाहते। समाज के दबाव से या अपनी कमज़ोरी से यह हम कभी नहीं कर सकते कि समझ को नासमझी के असूल समझा दें। पानी आग की गर्मी अपनाकर जैसे फफोला ही डालेगा वैसे ही समझ नासमझी की बेवकूफ़ी अपनाकर ठोकरें ही खायगी और कदम क़दम पर ज़िन्दगी को दुखी बनाएगी। हमको अपने ज़मीर को ऐसा बनाना होगा कि वह उन कायदों को नहीं मानेगा जो छोटे-बड़े मे तमीज़ ही नहीं करते। वह बड़ों के साथ उन रस्मों को हरगिज़ ठीक न समझेगा जो छोटों के साथ की जाती है। वह उन रस्मों को हरगिज़ न मानेगा जो अब से कुछ वर्ष पहले जैसे काम मे आती थीं वैसे ही आज आती हैं और

उनमें कोई बदलाव नहीं हुआ है। उन रूढ़ियों को बेकार समझेगा जो पंजाब और बंगाल में एक ही तरह काम में आती है। खुलासा यह कि चाल-चलन ऐसा ही ठीक समझा जायगा जो उम्र, अक्ल, तन्दुरुस्ती, वक्त, मुल्क वगै़रह के लिहाज से बदलने की काबलियत रखता हो। जब यह साफ देखने में आता है कि जो काम एक के लिए बेहद बुरा है वह दूसरे के लिए बेहद अच्छा है और यह कि जो एक उम्र में बेहद बुरा वह दूसरी उम्र में बेहद अच्छा है, तब क्यों रूढ़ियों से चिपटा जाये और उनकी बेजा इज्जत की जाये।

रूढियों को ठुकराने का डर नहीं, तो रुठाने का डर क्यों ?

1350

